केन उपनिषद्।

इसमें निम्न लिखित निबंध हैं।

[(१) केन उपनिषद्, (२) अथर्ववेदीय केन सूक्त, (३) देवीभागवतांतर्गत देवतागर्वहरणकी कथा.]

लेखक और प्रकाशक,

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि० सातारा).

प्रथमवार २०००

विक्रम संवत् १९७८, शालिवाहन शक १८४४, ई० सन् १९२२.

मूल्य १।) सवा रु.

"वैदिक धर्म"

मासिक पत्र। वार्षिक मूल्य डाकव्यय समेत ३॥) रु. है।
वैदिक तत्व ज्ञानका विचार और प्रचार करनेवाला यह एक ही मासिक पत्र है।

(१) "वैदिक धर्म" पढ़नेसे आपका उत्साह बढ़ेगा, आपकी उदासीनता दूर होगी और आप परम पुरुषार्थी बनेंगे।

(२) शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक उन्नति करनेके वैदिक मार्ग आपको ज्ञात हो सकते हैं।

(३) "वैदिक धर्म" पूर्ण उत्साहमय धर्म है। भयभीतोंको अभय देना, निर्बलोंको सबल करना, अपवित्रोंको पवित्र बनाना, तात्पर्य मुक्ति, स्वतंत्रता, आनंद और यशका मार्ग बताना इसका उद्देश है।

(४) कठिन समयमें "वैदिक धर्म" का एकएक वाक्य आपको सत्यधर्मके प्रकाश द्वारा आधार दे सकता है और आपके मनकी शांति स्थिर रख सकता है।

(५) "वैदिक धर्म" आत्माका विकास करना चाहता है।

आप शीघ्र ग्राहक बन जाइए और अपने मित्रोंको ग्राहक बननेकी प्रेरणा कीजिए।

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि. सातारा.)

उपनिषद् ग्रंथ–माला । ग्रंथ २

केन उपनिषद् ।

[(१) केन उपनिषद्, (२) अथर्ववेदीय केनसूक्त, (३) देवीभागवतांतर्गत देवतागर्वहरणकी कथा, आदिके समेत]

लेखक और प्रकाशक,

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि० सातारा).

प्रथमवार २०००

विक्रम संवत् १९७८, शालिवाहन १८४४, इसवी सन् १९२२.

प्रकाशक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, (स्वाध्याय मंडलके लिये)
(औंध, जि॰ सातारा.)

मुद्रक—रामचंद्र येसु शेडगे, 'निर्णयसागर' छापखाना,
२३, कोलभाट गल्ली, मुंबई.

"केन" उपनिषद् का थोडासा मनन ।

(१) उपनिषद् के ज्ञानका महत्व ।

संपूर्ण आर्य जगत् के लिये "उपनिषद् ग्रंथ" अत्यंत सन्मानके ग्रंथ हैं । इस समय संपूर्ण जगत् एक मतसे कह रहा है कि, जो तत्वज्ञानका भंडार इन उपनिषदोंमें कहा गया है, वही सबसे श्रेष्ठ और माननीय है । गत शताब्दीतक कई पश्चिमीय विद्वान कहा करते थे कि, "आर्योंका संस्कृत ग्रंथसंग्रह कागजके मूल्यका भी नहीं है" परंतु अब वेही कहने लगे हैं कि, "आर्योंकी सभ्यता एक श्रेष्ठ सभ्यता है, और आर्योंका औपनिषदिक तत्वज्ञान मानवी ज्ञान भंडारमें सबसे श्रेष्ठ तत्वज्ञान है ! !" यूरोप और अमेरिकामें जो नूतन विचारोंकी क्रांति हो रही है, और उनकी प्रवृत्ति जो पाशवी शक्तिको छोड, आत्मिक इच्छाशक्ति बढानेकी ओर हो रही है, वह इन उपनिषदोंके मननकाही फल है ! जो लोग पाशवी सभ्यताकी घमंडमें थे, वेही अब मुक्त कंठसे कहने लगे हैं कि, "जिस प्रकार उपनिषदों का तत्वज्ञान जीवित दशामें हमको शांति दे रहा है, उसी प्रकार वही तत्त्वज्ञान मरनेके समय भी हमें अवश्य शांति देगा ।" निःसंदेह यह बात सत्य है, और इसमें थोडीभी अत्युक्ति नहीं है । उपनिषदोंके अंदर वे विचार हैं कि, जो हरएक अवस्थामें मनुष्यमात्रको सच्ची शांति, श्रेष्ठ आनंद और असीम धैर्य देकर, हरएक मनुष्यको कर्तव्यतत्पर करनेकी शक्ति रखते हैं । इसलिये हरएक की पाठविधिमें इन अमूल्य ग्रंथोंको अवश्य स्थान मिलना चाहिये । विशेषतः जो वैदिक धर्मी हैं, सनातन मानवधर्मका अभिमान जिनके मनमें अवशिष्ट है और जो अपने आपको आर्य मानते तथा ऋषिसंतान समझते हैं, उनको तो इन ग्रंथोंका स्वाध्याय प्रतिदिन करना अत्यंत आवश्यक है ।

(२) "उपनिषद्"का अर्थ ।

"उपनिषद्" शब्द किस निश्चित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह झटपट कह देना अत्यंत कठिन कार्य है । क्यों कि इस एक शब्दमें कई अर्थ विद्यमान हैं । "उपासना" का भाव भी इस शब्दमें है । देखिये—

उपासना=(उप+आसना)=पास बैठना ।
उपनिषद्=(उप+नि+पद्)=पास हो कर बैठना ।

ये दोनों शब्द प्रायः एकही भाव बता रहे हैं। उपासना "आत्मा" की होती है। और उपासनामें "आत्माकी शक्तिका चिंतन" करना होता है। इस चिंतनके लिये स्थूल शक्तियोंको छोड कर सूक्ष्म शक्तियों-के पास जा कर बैठना, अर्थात् "मनसे सूक्ष्म शक्तिके साथ होना", होता है। उपनिषद् शब्दका यह भाव विशेष विचार करने योग्य है, क्योंकि जो उपनिषद्में विद्या है, वही "आत्मविद्या" अर्थात् सूक्ष्म-तम–श्रेष्ठ–शक्ति की ही विद्या है। इस सूक्ष्म शक्तिका प्रभाव स्थूल सृष्टिमें कैसा देखना चाहिये, इस बातकाही वर्णन इन ग्रंथों में है। इसी-लिये इन ग्रंथोंको अध्यात्मविद्या किंवा आत्मसंबंधी विद्याके ग्रंथ कहते हैं। इस प्रकार यद्यपि मूलतः "उपनिषद्" शब्द उपासनाकाही द्योतक था, तथापि वही शब्द अध्यात्म विद्या, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, तत्त्वविद्या आदिका वाचक बन गया, और ऐसा होना स्वाभाविकभी है।

"सद्" धातुका अर्थ (to sit) बैठना है, इसलिये "उप+नि+षद्" शब्दका अर्थ "पास होकर बैठना" अर्थात् सत्संग में बैठना, होता है। "परि–षद्, सं–सद्" आदि शब्द भी उक्त कारण से "सभा, परिषद्, सत्संग, समाज, (congregation)" के वाचक हैं, इसीप्रकार "उप–नि–षद्" शब्दमें भी "सभा" का भाव है। विशेषतः "धार्मिक सत्संग" का भाव "उपनिषद्" शब्दसे प्रकट होता है। प्राचीन कालमें वानप्रस्थी लोकोंका "अरण्योंमें सत्संग" हुआ करता था। सालोंसाल तपस्या करते करते, और सत्संगमें आत्मशक्तिका मनन करते करते, जो विचार निश्चित हो जाते थे, वेही "आरण्यकों"में लिखे जाते थे। इसलिये प्रायः "आरण्यक" ग्रंथोंमें बहुतसे उपनिषद् हैं।

एकएक शाखाके श्रेष्ठ विद्वानोंका सत्संग वानप्रस्थाश्रममें अरण्यों और वनोंमें लगता था, और जब कभी तत्वज्ञानके सिद्धांत आत्मानुभवसे निश्चित हो जाते थे, तब उनको सूक्त रूपमें संगृहीत किया जाता था, और वही उस शाखाका उपनिषद् बन. जाता था। इसप्रकार प्रत्येक

शाखाके लिये एक अथवा अधिक उपनिषद् हुआ करते थे। परंतु इस समय न तो सब शाखायें उपलब्ध हैं और न सब शाखाओंके सब उपनिषद् विद्यमान हैं। इस समय उपनिषदों में केवल ग्यारह उपनिषद् माननीय समझे जाते हैं, तथा जो अन्य उपनिषद् उपलब्ध हैं उन के विषयमें विद्वान आचार्योंकी संमतियां विभिन्न होनेसे सांप्रदायिक विवाद के कारण उन उपनिषदों की मान्यता और प्रतिष्ठा वैसी नहीं समझी जाती। परंतु सांप्रदायिक अभिमान छोडकर, तत्वज्ञानकी दृष्टिसे यदि कोई भद्रपुरुष उनका अवलोकन और मनन करेगा, तो उनमें भी बहुत भाग माननीय और आदरणीय प्राप्त हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

(३) सांप्रदायिक झगडे।

वास्तविक दृष्टिसे "तत्व-ज्ञान" के विचारमें सांप्रदायिक झगडे नहीं होने चाहिये, परंतु इस देशमें तथा सब अन्य देशोंमें तत्व ज्ञानके साथ मतमतांतरोंका अभिमान विलक्षण बढ जानेके कारण तत्वज्ञानके भी संप्रदाय बने हैं!! जिस समय कोई तत्वज्ञान सांप्रदायिक प्रवाहमें आ जाता है, उस समय वह "स्थिर" हो जाता है और फिर उसमें "वृद्धि" नहीं हो सकती। सरस्वती नदीके जीवनमें स्थिरता होनेसे ही बिगाड होता है। संप्रदायके पंथका अभिमान बढ जानेके कारण अपने पंथका मत ही प्राचीन ग्रंथोंमें बतानेकी आवश्यकता प्रतीत होती है, और जिस समय ऐसा होता है, उस समय प्राचीन ग्रंथोंका सत्य अर्थ लुप्त करने, और अपना भाव उक्त ग्रंथोंमें बतानेकी ओर प्रवृत्ति हो जाती है! शोकसे कहना पडता है कि, इस अपने भारतवर्षमें भी उक्त प्रवृत्ति कई शताब्दियोंसे चली है! और इस समयमें भी लोग उससे निवृत्त नहीं हुए हैं!!!

द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक पंथके अभिमान इतने प्रबल हुए हैं कि, उनके कारण उपनिषद् जैसे ग्रंथोंमें भी अपने अपने मतकी छाया बडे बडे धुरंधर विद्वानोंनें देखी!! वास्तवमें सांप्रदायिक झगडोंको दूर रख कर उपनिषदादि माननीय सद्ग्रंथोंका मनन जिस समय किया जाता है, और जब उन के

हृद्गतसे अपने मनकी एकतानता हो जाती है, तब ही सच्चा आनंद आता है। इसलिये पाठकोंसे यहां इतनी ही प्रार्थना है कि, वे परिशुद्ध अंतःकरणसे ही इस उपनिषद्के मंत्रोंका अध्ययन, मनन, और निदिध्यासन करें और अलौकिक आनंद प्राप्त करें।

सांप्रदायिक झगडोंके विषयमें उक्त बात लिखनेसे कोई यह न समझे कि, संप्रदायोंकी सबही बातें त्याज्य हैं। वेद और वेदांतकी जो "गुप्त विद्या" है, वह गुरुशिष्यपरंपरासे चली आरही है, इसलिये वह संप्रदायोंके द्वारा ही जागृत रहती है। इसलिये हमें आवश्यक है कि, संप्रदायोंमें जो दुराग्रहके विवाद हैं उनसे दूर रहें, और उनमें जो "गुप्त आत्मविद्या" के स्तोत्र हैं, उनको प्राप्त करें। इसप्रकार सदा "हंस-क्षीर" न्यायसे चलनेसे ही "सत्य तत्वज्ञान" प्राप्त हो सकता है। आगे आनेवाली जनताको हठवादोंकी आवश्यकता नहीं है, परंतु शुद्ध वैदिक तत्वज्ञानकी बडी आवश्यकता है। इसलिये हम सबको इसी रीतिका अवलंबन करना आवश्यक है।

(४) केन उपनिषद् ।

सन्मान्य उपनिषद् अनेक हैं, उनमें "ईश उपनिषद्" काण्व यजुर्वेद संहितामें होनेसे, और मंत्रात्मक संहिताभाग संपूर्ण धार्मिक ग्रंथोंमें शिरोधार्य होनेसे, सब उपनिषदोंमें ईश उपनिषद्का पहिला मान समझा जाता है। केवल यही ईश उपनिषद् "मंत्रोपनिषद्" है, इस लिये इस दृष्टिसे यह उपनिषद् अन्य उपनिषदोंसे भिन्न और श्रेष्ठ है। जो शाखाके सत्संगोंका उपनिषद् ग्रंथोंके साथ संबंध पूर्व स्थलमें वर्णन किया है, वह "ईश उपनिषद्" के लिये समझना उचित नहीं है; परंतु जो उपनिषद् ब्राह्मणों और आरण्यकोंमें हैं, उनके विषयमें ही उक्त वर्णन समझना योग्य है।

यह "केन उपनिषद्" साम वेद के तलवकार ब्राह्मण अथवा जैमिनीय ब्राह्मण के नवम अध्यायमें है। इसलिये इसको प्रारंभ में "तलवकार उपनिषद्" कहा जाता था, परंतु इसके प्रारंभमें "केन" शब्द होने से इसका नाम केन उपनिषद् भी प्रचलित हो गया है।

(५) "केन" शब्दका महत्व।

हरएक विचारी निरीक्षकके मनसें प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि, "यह संसार 'क्यों' चलाया जा रहा है? इसका 'कौन' चालक है? इस में प्रेरक देव 'कौन' है? इस शरीरसें अधिष्ठाता 'कौन' है? 'किस की' प्रेरणासे यह शरीर चल रहा है?" इत्यादि प्रश्न मनसें उठते हैं, परंतु इसका उत्तर हरएक मनुष्य नहीं दे सकता। उक्त प्रश्नोंसें "क्यों, किसने, किससे, किसके द्वारा" आदि शब्द हैं, येही भाव "केन" शब्द में हैं। इस उपनिषद्के प्रारंभमें ही प्रश्न किया है कि "किस देवताकी प्रेरणासे मन मननमें प्रवृत्त होता है?" और इस एक प्रश्नके उत्तर के लिये ही यह उपनिषद् है। इसलिये कोई पाठक यह न समझें कि "केन उपनिषद्" यह नाम निरर्थक है; परंतु यही नाम बता रहा है कि हरएक विचारी मनुष्यके मनसें जो प्रश्न उत्पन्न होता है, उसी प्रश्नका उत्तर इसमें दिया गया है।

"मैं कौन हूं? कहांसे आया? क्यों कार्य कर रहा हूं? इसमें प्रेरक कौन है?" इन प्रश्नोंसें जो भाव है, वही उपनिषद्के "केन" शब्दद्वारा प्रकट हो रहा है। इसलिये पाठक जान सकते हैं कि, इस उपनिषद् के विषयका प्रत्येक मनके साथ कितना घनिष्ठ संबंध है। यही कारण है कि, इसका मनन हरएकको अधिक करना चाहिये।

(६) "वेदान्त" का विषय।

उक्त प्रश्नोंका जो विषय है, वही वेदांतका मुख्य विषय है। "मैं कौन हूं? और मेरी योग्यता क्या है?" यही बात समझना बडा कठिन काम है। वेदमें जो ज्ञान है, उसका अंतिम पर्यवसान इन प्रश्नोंका उत्तर देनेमें ही होता है, इसीलिये कहते हैं कि जो वेदका अंतिम ज्ञान है, वही वेदांत है। वेद संहिताओंके सूक्तोंका यदि कोई अंतिम पर्यवसान है, तो यही है। "एक ही सत्य वस्तुका वर्णन ज्ञानी भिन्न भिन्न शब्दोंद्वारा करते हैं, उसी एक को अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि, कहते हैं।" (ऋ. १।१६४।४६)" यह वेदका कथन है। तात्पर्य वेद अग्नि, इंद्र, वायु आदि शब्दोंद्वारा मुख्यतया एकही सद्वस्तुका वर्णन कर रहा है। यद्यपि वेदमंत्रका व्यक्त अर्थ प्रारंभमें भिन्नसा प्रतीत

होता है, तथापि उसकी अंतिम सार्थकता उस एक अद्वितीय सद्वस्तुका वर्णन करनेमें ही निश्चयसे है, इसलिये वेदका जो अंतिम अर्थ है, वही "वेदांत" से व्यक्त होना है। वेदके सूक्तोंके अर्थका अंतिम भाव जिस के वर्णन पर होता है, वही वेदांत प्रतिपाद्य सद्वस्तु है।

इसी कारण वेदके अंतिम सूक्तभी विशेषतया सद्वस्तु प्रतिपादकही हुआ करते हैं और विशेषतः यह बात वाजसनेय किंवा माध्यंदिन संहिता में विशेष स्पष्ट है, क्यों कि इनका अंतिम अध्याय केवल ब्रह्मवर्णनरूप ही है। तात्पर्य वेदका अंतिम भाग किंवा ज्ञानकी अंतिम सीमा ब्रह्म-ज्ञानही है। इसलियेही "वेदांत" शब्द "ब्रह्मज्ञान" का वाचक बना है, और वह योग्य ही है। वेदांतशास्त्रकी मुख्य प्रवृत्ति जिस एक प्रश्नका उत्तर देनेके लिये है, वह इस उपनिषद् के "केन (किसके द्वारा)" शब्दद्वारा बताई जा रही है। इस उपनिषद्की शब्दयोजना ऐसी गंभीर है कि यदि इसका योग्य श्रवण, मनन और निदिध्यासन किया जायगा, तो उक्त प्रश्नोंका पूर्ण उत्तर प्राप्त हो सकता है।

(७) उपनिषदों में ज्ञानका विकास।

बहुत विद्वान समझते हैं, कि वेदके संहिता और ब्राह्मण ग्रंथोंकी अपेक्षा उपनिषदोंमें ज्ञानका विकास अधिक हुआ है। इसका विचार करनेके लिये ही "केन उपनिषद्" के साथ अथर्ववेदका "केन सूक्त" इसी पुस्तकमें रख दिया है। जो पाठक दोनोंका अभ्यास तुलनात्मक दृष्टिसे करेंगे, उनको अथर्ववेदीय "केन सूक्त" में ही ज्ञानका अधिक विकास प्रतीत होगा। वास्तविक बात यह है कि, जो गुप्त ज्ञान मंत्रात्मक संहिता-ओंके सूक्तोंमें है, उसीको लेकर केन, कठ आदि उपनिषद् बने हैं। इसलिये ही उपनिषद् और ब्राह्मणग्रंथोंको भी मंत्रात्मक संहिताओंका प्रामाण्य शिरोधार्य है। परंतु जो विद्वान होकर मूल संहिताके मंत्र पढकर समझ नहीं सकते, वेही मानते, लिखते और कहते हैं कि संहिताके सूक्तोंमें वह "ब्रह्मविद्या" नहीं है, जो उपनिषदोंमें है। परंतु यह कथन उनके संहिताविषयक पूर्ण अज्ञानका ही द्योतक है, न कि वास्तविक वस्तुस्थिति का निदर्शक है!!

इससे हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है, कि उपनिषदोंका ज्ञान किसी प्रकार कम योग्यताका है। हमको यहां इतनाही बताना है कि "ब्रह्म-विद्याका ज्ञान जो संहिताओंके सूक्तों में नहीं था, वह उपनिषदोंमें आविष्कृत हुआ," यह कथन भ्रांतिमूलक है। वास्तविक वात यह है कि, वेदके मंत्रोंका अथवा सूक्तोंका थोडासा भाग लेकर उसपर सत्संगों-द्वारा बहुत समयतक निरंतर मनन करनेके पश्चात् जो आत्मानुभवपूर्वक सिद्धांत निश्चित होगये, वेही उपनिषद् हैं। अर्थात् वेदमंत्रोंके अमृत-कूपमें जो नहीं था, वह उपनिषदोंके घडोंमें नहीं आया है।

पाठक इस बातका अनुभव "अथर्ववेदीय केन सूक्त" की तुलना "केन उपनिषद्" के साथ करके प्राप्त कर सकते हैं। इस बातके लिये कोई अधिक प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। दोनोंकी तुलना करनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, जो अथर्ववेदीय केन सूक्तमें है, वही केन उपनिषद्में है, तथा केन उपनिषद्की अपेक्षा केन सूक्तमें ही कई बातें अधिक हैं। इन दोनों की तुलना करनेसे पूर्वोक्त भ्रम दूर होगा।

जो विद्वान वेद संहिताओंको "अविद्या" समझते हैं और उपनिषदोंको "परा विद्या" कहते हैं, और जो मानते हैं कि, वैदिक सूक्तोंकी अपेक्षा उपनिषदोंमें ज्ञानका विकास हो गया है, उनको थोडासा अधिक विचार करना चाहिये। यदि अग्नि आदि देवताओंके सूक्त ब्रह्मविद्याका प्रकाश कर रहे हैं, यह बात उनके मस्तिष्कमें प्रविष्ट नहीं हो सकती, तो न सही। परंतु इससे उनके मस्तिष्ककी स्थूलता सिद्ध हो सकती है, उसमें वेदके सूक्तोंका कोई कसूर नहीं है!! अंधेके आंख यदि सूर्यका दर्शन नहीं कर सकते, तो उसमें सूर्यका क्या दोष है?

इतनी सूक्ष्म बातको छोड भी दिया जाय, तो "अथर्ववेद" काही दूसरा नाम "ब्रह्म-वेद" अर्थात् ब्रह्मका ज्ञान इस अथर्ववेद में है। ब्रह्मविद्या इस अथर्व वेदके सूक्तोंमें है, यह बात सुप्रसिद्धही है। इस अथर्व वेदमें जिसप्रकार की ब्रह्मविद्या है उसका बोध इस पुस्तकमें दिये हुए "केन सूक्त" से हो सकता है। इसप्रकारके सेकडों सूक्त अथर्ववेदमें हैं। इतना होनेपर भी जो उनको देखेंगे नहीं, और कहते ही जांयगे

कि, "वेदमंत्रोंमें ब्रह्मज्ञान नहीं था, वह उपनिषदों में प्रकट हुआ है," उनको समझाना असंभवनीय ही है।

"अ-थर्वा" शब्दका ही अर्थ "निश्चल योगी" है। "स्थित-प्रज्ञ" का जो भाव श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है, वही भाव "अथर्वा" शब्द-द्वारा वेदमें कहा है। अर्थात् "अ-थर्ववेद" जो है, वह "स्थित प्रज्ञ-योगीका वेद" है। इस वेदके इस नामसे भी इसमें ब्रह्मविद्या की संभावना अनुमानित की जा सकती है। कई लोग यहां कहेंगे कि, यद्यपि अथर्व वेदमें "ब्रह्मविद्या" की संभावना मानी जायगी, तथापि अन्य वेदोंमें तो मानी नहीं जासकती। इसके उत्तर में निवेदन है कि, यजुर्वेदके अंतिम अध्याय में तो मंत्रोपनिषद् किंवा ब्रह्माध्याय अथवा आत्मसूक्त अर्थात् ईशोपनिषद्ही है, इस विषयमें तो किसीको संदेह ही नहीं हो सकता। इसप्रकार अथर्ववेद और यजुर्वेदमें तो ब्रह्मविद्या निश्चयसे है। अब ऋग्वेदमें देखेंगे—

(८) अग्नि शब्दका भाव।

ऋग्वेद १।१६४।४६ में कहा है कि—

इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ॥
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
ऋ. १।१६४।४६

"एक ही सद्वस्तुका वर्णन विशेष ज्ञानी अनेक प्रकारसे करते हैं, उसीको अग्नि, इंद्र, मित्र, वरुण, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं।" तथा—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमाः ॥
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥
यजु. अ. ३२।१

"वही अग्नि, सूर्य, वायु, चंद्र, शुक्र, ब्रह्म, आप् और प्रजापति है।"

इत्यादि मंत्र स्पष्टतासे कह रहे हैं कि, अग्नि आदि शब्द उसी एक अद्वितीय सद्वस्तुका बोध करते हैं। यद्यपि यह वैदिक कल्पना अत्यंत स्पष्ट है, तथापि कई विद्वानोंका आग्रह है कि, अग्नि आदि देव भिन्नही हैं। इसलिये यहां इतना कहना आवश्यक है कि, जो उक्त वैदिक परिपाटीसे

परिचित हैं, वे अग्नि आदि देवतायें भिन्न मानते हुए भी अग्नि आदि शब्दोंका अर्थ एक अवस्थामें परमात्मा मानते हैं ! ईशोपनिषद् में—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ॥ युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम-उक्तिं विधेम ॥ यजु. ४०।१६

यह मंत्र है । इस मंत्रमें जो "अग्नि" शब्द है, वह परब्रह्मवाचक ही है, और केवल भौतिक अग्निका वाचक नहीं है; क्योंकि यह संपूर्ण अध्याय "ब्रह्म अथवा आत्मा" देवताका वर्णन कर रहा है । यही मंत्र ऋ. १।१८९।१ में है । इसलिये ऋग्वेदके इस सूक्तमें अग्नि शब्द आत्माका वाचक नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । तथा—

ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेः ॥ ऋ. ७।४।६

"अनंत अमृतका स्वामी अग्नि है ।" यहांका अग्नि शब्द आत्माकाही वाचक है । इस प्रकार आत्माग्नि ब्रह्माग्नि वगैरे शब्द अलंकार से वही भाव बताते हैं । इस विषयमें यद्यपि अनेक मंत्र बताये जा सकते हैं, तथापि यहां अधिक लिखनेके लिये स्थान नहीं है, जो इसविषयमें लिखना है वह "अग्नि-देवता-परिचय" नामक पुस्तकमें लिखा है । यहां इतनाही बताना है कि, उक्त मंत्र स्पष्टतासे आध्यात्मिक आत्माग्निका भाव बता रहे हैं । जो लोग अग्निशब्दका मुख्यार्थ "आत्मा" नहीं मानते, उनको अग्निदेवताके "कवी, युवा, सत्य, ऋतस्य गोपा, पिता" आदि विशेषण भौतिक अग्निपर घटाना बडा ही मुश्किल हो जाता है । ये शब्द आध्यात्मिक आत्माग्निकेविषयमें बिलकुल ठीक और सत्य प्रतीत होते हैं। इसएक बातसे ही अग्नि आदि शब्द आत्माके भी बोधक हैं, यह बात सिद्ध हो सकती है। इसप्रकार विचार करनेसे स्वयं पता लग जायगा, कि अग्नि आदि देवताओंके मिषसे ऋग्वेदमें भी आत्मविद्या बताई है । इस विषयका थोडासा वर्णन पाठक "रुद्र-देवता-परिचय" ग्रंथमें देख सकते हैं । अस्तु । इसप्रकार चारों वेदमें मुख्यतया ब्रह्मविद्याका वर्णन है, और गौण दृष्टिसे अन्य पदार्थोंका वर्णन है इस विषयकी । पूर्णतासे सिद्धि किसी अन्य प्रसंगमें की जायगी, यहां केवल सूचनार्थ लिखा है ।

"इंद्र, हंस, मातरिश्वा (प्राण)" आदि शब्दोंका आध्यात्मिक

अर्थ प्रसिद्ध ही आत्मापरक है, इसलिये इनके विषयमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

(९) केन उपनिषद् का सार।

केन उपनिषद् के चार खंड हैं और उनमें निम्न उपदेश आया है—
"(१) आध्यात्मिक उपदेश—(प्रथम खंड)=मन, प्राण, वाचा चक्षु, कर्ण ये इंद्रिय किसकी प्रेरणासे कार्य करते हैं? इन सबकी प्रेरक एक आत्मशक्ति है, परंतु वह मन आदि इंद्रियोंको अगोचर है। इंद्रियोंसे उसका पोषण नहीं होता, परंतु वही संपूर्ण इंद्रियोंका पोषण करती है। (द्वितीय खंड)=इस आत्मशक्तिका पूर्णतासे ज्ञान होना अत्यंत कठिन कार्य है। जो उसको जाननेकी घमंड करता है, वह उसको बिलकुल जानता नहीं; परंतु जो समजता है कि, मुझे उसका ज्ञान नहीं हुआ, वही कुछ न कुछ जानता है। इसी आत्मासे सब बल प्राप्त होता है, और इसके ज्ञानसे अमरपन प्राप्त होता है। यदि इसी जन्ममें उसका ज्ञान हुआ तो ठीक है, नही तो बडी हानी होगी। जो ज्ञानी प्रत्येक पदार्थमें ढूंढ ढूंढ कर उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं वे अमर होते हैं।"

(२) आधिदैविक उपदेश—(तृतीय खंड) ब्रह्मनें देवोंके लिये विजय किया, परंतु देव घमंडमें आकर समझने लगे कि, यह हमनेही विजय किया है। यह देख कर देवोंके सामने ब्रह्म प्रकट हुआ, परंतु कोई भी देव उसको न पहचान सका। अपनी शक्तिका गर्व करता हुआ अग्नि उसके पास गया, परंतु उसकी सहायताके विना वह घांस भी न जला सका! उसीप्रकार वायु घास के एक तिनकेको भी न उडा सका!! इसप्रकार देव लज्जित होकर वापस गये, तब इंद्र आगे बढा। परंतु इंद्रको आते हुए देखकर वह ब्रह्म गुप्त होगया। तत्पश्चात् उस इंद्रने उसी आकाशमें हैमवती उमा नामक एक स्त्रीका दर्शन किया और उससे पूछा कि, यह क्या है? (चतुर्थ खंड)=उमाने उत्तर दिया कि, 'वह ब्रह्म है, उसीके कारण तुम्हारा विजय हुआ था' इसप्रकार इंद्रको ब्रह्मका पता लगा। संपूर्ण देवोंमें अग्नि, वायु और इंद्र ये तीन ही देव श्रेष्ठ हैं, क्यों कि इनको ही ब्रह्म किंचित् निकट हुआ था। तथा इनमें इंद्र इसलिये श्रेष्ठ है कि उसीनें ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया।"

"जो अधिदैवतमें 'विद्युत्' है वही अध्यात्ममें मन है, ये दोनों उसीका मार्ग बताते हैं। इसलिये उसी वंदनीयकी उपासना करना चाहिये। इस उपनिषद्का आश्रय 'तप–दम–कर्म' है, वेद इसके सब अंग हैं और इसको सत्यका आधार है।"

इसप्रकार इस केन उपनिषद्का सारांश है। यद्यपि यह उपनिषद् अत्यंत छोटासा है तथापि थोडे शब्दोंमें इसने अद्भुत ज्ञान दिया है। इस उपनिषद् में "(१) प्रेरक और प्रेरित, (२) आत्मा और इंद्रिय (३) ब्रह्म और देव" इनका संबंध बताया है। इनका वर्णन होनेसे दो वस्तुओंका वर्णन इस उपनिषद् में है, ऐसा कहना पडता है।

प्रेरक	प्रेरित, प्रेर्य
(व्यक्तिमें) आत्मा (ब्रह्म)	इंद्रिय-(वाणी, प्राण, मन इ.)
(जगत्में) ब्रह्म (परमात्मा)	देव- (अग्नि, वायु, इंद्र, इ.)

इनका विचार करना, और प्रेरितोंमें कार्य देखकर प्रेरककी शक्ति जानना" इस उपनिषद्का मुख्य विषय है। इस उपनिषद्के अंग, अवयव, आधार और आश्रय जो ऊपर दिये हैं उनका विचार करनेसे इस उपनिषद्का निम्न स्वरूप बनता है—
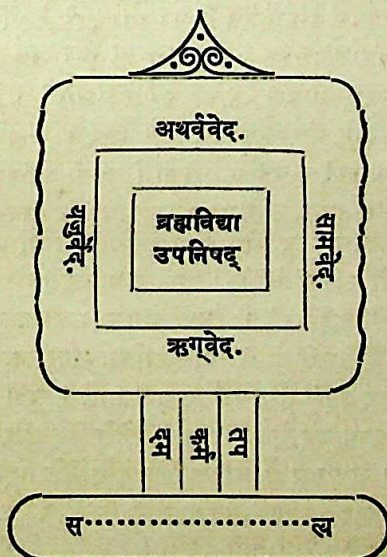
इसप्रकार उपनिषद् विद्याकी स्थिति है। "सत्यनिष्ठा, कर्म और वेद इनको छोडकर उपनिषद् रहता नहीं," इस बातको ठीक ठीक प्रकार जाननेसे वेद और उपनिषदोंका वास्तविक संबंध जाना जा सकता है और इनमें मुख्य और गौण कौन है, इस विषयमें शंकाही नहीं होती। उपनिषदोंके सब अंग "चारों वेदोंके सूक्त" हैं, सत्य निष्ठाके सुदृढ आधारपर इसका अवस्थान है और "तप, दम, कर्म" के आश्रयसे उपनिषद् विद्या रहती है। इसलिये न तो उपनिषद् का कर्मोंसे विरोध है और न वेदके साथ कोई झगडा है। जो विरोध और झगडा खडा किया है, वह सांप्रदायिक अभिमानोंके कारण खडा हुआ है। देखिये—

(१०) उपनिषद्का आधार।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा।
वेदाः सर्वांगानि, सत्यमायतनम् ॥ (केन उ. ३३)

"(१) तप—सत्यके आग्रहसे प्राप्त कर्तव्य करनेके समय जो कष्ट होंगे, उनको आनंदसे सहन करना तप है, (२) दम—अंदरके और बाहिरके संपूर्ण इंद्रियोंको अपने स्वाधीन रखना और स्वयं इंद्रियोंके आधीन न होना, दम कहलाता है। (३) संपूर्ण प्रशस्ततम पुरुषार्थ इस कर्म शब्दसे ज्ञात होते हैं। इन तीनों पर उपनिषद् विद्या खडी रहती है। चारों वेद इस उपनिषद् विद्याके सब अंग और अवयव हैं। और सत्य उसका आयतन है।"

पाठक इसका विचार करेंगे, तो उनके ध्यानमें आ सकता है कि उपनिषदोंका वेदोंसे क्या संबंध है। ऋग्वेद "सूक्तवेद" है इसमें उत्तम विचार हैं, यजुर्वेद "कर्मवेद" है इसमें प्रशस्त कर्मोंका कथन है। सामवेद "शांतिवेद" है इसमें शांति प्राप्त करनेका उपासना रूप साधन है, और अथर्ववेद "ब्रह्मवेद" है इसमें ब्रह्मविद्या है। सुविचार, प्रशस्तकर्म, उपासना और ब्रह्मज्ञान यह वेदका क्रम देखनेसे वेद और वेदांतका संबंध ज्ञात हो सक्ता है। अब इसका अधिक विचार करनेके पूर्व इस उपनिषद्के शांतिमंत्रोंका विचार करना आवश्यक है, क्योंकि उससे एक नवीन बातकी सिद्धि होनी है।

(११) शांतिमंत्रका विचार।

प्रथम मंत्र।

इस "केन" उपनिषद्के साथ दो शांतिमंत्र पढे जाते हैं, उनमें पहिला शांतिमंत्र निम्न लिखित है—

> ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
> सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु।
> मा विद्विषावहै। तै. आ. ८।१।१ ; ९।१।१

"(१) हमारा (अधीतं) अध्ययन किया हुआ ज्ञान हम दोनोंका रक्षण करे, (२) वह ज्ञान हम दोनोंको भोजन देवे, (३) उस ज्ञानसे हम दोनों मिलकर पराक्रम करें, (४) वह ज्ञान तेजस्वी रहे, (५) उस ज्ञानसे हम आपसमें न झगडें।" ये पांच उपदेश उक्त शांतिमंत्रमें हैं। अध्ययनसे प्राप्त कियेहुए ज्ञानसे क्या होना चाहिये और क्या नहीं होना चाहिये, इसका निश्चित उपदेश इसमें है, (१) ज्ञानसे स्वसंरक्षण करनेकी शक्ति प्राप्त होनी चाहिये, (२) ज्ञानसे उदरनिर्वाहकी कठिनता अर्थात् आजीविकाकी कठिनता दूर होनी चाहिये, (३) ज्ञानसे पराक्रम करनेका उत्साह बढना चाहिये, (४) ज्ञान तेजस्वी होना चाहिये, अर्थात् ज्ञानसे तेजस्विता बढनी चाहिये, और (५) आपसमें प्रेम बढना चाहिये। ज्ञानसे ये कार्य अवश्य होने चाहिये।

परंतु जिस अध्ययनसे (१) स्वसंरक्षण करनेकी शक्ति नष्ट होती है, (२) जिससे आजीविकाका प्रश्न प्रतिदिन कठिन होता जाता है, (३) जिससे निरुत्साह बढता है, (४) जिससे निस्तेजता बढती है और (५) जिससे आपसके झगडे बढते हैं, वह सच्चाज्ञान नहीं है। इस उपदेशका अत्यंत महत्व है, और इस लिये सबको इस बातका विचार अवश्य करना चाहिये। विशेषतः जो लोक शिक्षणसंस्थाओंको चला रहे हैं; पाठशालायें, विश्वविद्यालय, गुरुकुल आदि संस्थाओंको चलानेका जिन्होंने जिम्मा लिया है, उनको इस मंत्रका बहुत ही विचार करना चाहिये। "शिक्षा-प्रणाली" कैसी होनी चाहिये, और कैसी नहीं होनी चाहिये, इसका

विचार उत्तम रीतिसे उक्त मंत्रमें है, इस लिये यह मंत्र संपूर्ण जगत्का मार्गदर्शक हो सकता है ।

गुरुशिष्य, उच्चनीच, शिक्षित अशिक्षित, अधिकारी अनधिकारी, आदि प्रकारके द्विविध जन हुआ करते हैं । उन दोनोंका भला होना चाहिये और किसीकाभी बुरा नहीं होना चाहिये । यह " लोक-संग्रह " का तत्व इस मंत्रमें है। इस लिये यह मंत्र "सामुदायिक प्रशस्त कर्म" का उपदेश कर रहा है । अब दूसरे शांतिमंत्रमें वैयक्तिक उन्नतिका भाव देखिये—

(१२) द्वितीय शांतिमंत्रका विचार ।

ॐ आप्यायन्तु ममांगानि, वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्र-
मथो बलमिंद्रियाणि च सर्वाणि, सर्वं ब्रह्मोपनिषदं,
माहं ब्रह्म निराकुर्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोद्, अनिरा
करणमस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु, तदात्मनि निरते य
उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥
ॐ शांतिः । शांतिः । शांतिः ॥

"(१) मेरे सब अंग हृष्टपुष्ट हों; मेरी वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि इंद्रियों बलवान हों, (२) यह सब ब्रह्मका ज्ञान है, (३) मैं ज्ञानका विनाश नहीं करूंगा और मेरा नाश ज्ञान न करे, (४) कीसीका विनाश न हो, (५) जो उपनिषदोंमें धारण पोषणके नियम कहे हैं, वे मेरे अंदर स्थिर रहें ।"

शरीरका बल, इंद्रियोंकी शक्ति, और आत्माका सामर्थ्य बढाने का उपदेश इसमें है । उत्तम ज्ञानका आदर और अज्ञानका निराकरण करनेकी सूचना इसमें देखने योग्य है । मनुष्यमें जो स्थूल और सूक्ष्म शक्तियां हैं, उनका "सम-विकास" करनेकी उत्तम कल्पना इसमें अत्यंत स्पष्ट शब्दोंद्वारा व्यक्त की गई है । अस्तु यह द्वितीय मंत्र वैयक्तिक उन्नतिका ध्येय पाठकोंके सन्मुख रखता है। मनुष्यकी "व्यक्तिशः उन्नति" करनेकी सूचना इस मंत्रद्वारा बताई गई है, और "संघशः उन्नति" का श्रेष्ठ ध्येय प्रथम मंत्रद्वारा बताया गया है ।

(१३) तीन शांतियोंका तत्व ।

दोनों शांति मंत्रोंके पश्चात् तीन वार "शांति" शब्दका उच्चार किया जाता है, वह विशेष कारणसे है । मनुष्यमात्रका ध्येय इन शब्दोंद्वारा व्यक्त हो रहा है । (१) "व्यक्तिमें शांति" धारण करना, (२) "जनतामें शांति" स्थापन करना, और (३) संपूर्ण "जगत्में शांति" की वृद्धि करना, मनुष्यमात्रका तथा वैदिक ज्ञानका अभीष्ट है । इन तीन शांतियोंकी सूचना तीन शांतिके शब्द यहां दे रहे हैं । (१) "आध्यात्मिक शांति" वह है कि जो शरीर, इंद्रिय, अवयव, मन, बुद्धि और आत्मामें होती है । द्वितीय शांतिमंत्रमें आध्यात्मिक शांति ही कही है । व्यक्तिकी आंतरिक शक्तिसे इस शांतिकी स्थापना होती है । उक्त अवयवों और इंद्रियादिकों के दोष दूर करनेसे यह आध्यात्मिक शांति प्राप्त होती है । योगसाधन, भक्ति, उपासना आदिसे इस शांतिका लाभ होता है । (२) "आधिभौतिक शांति" वह होती है, जो प्राणियोंके परस्पर व्यवहार उत्तम होनेसे स्थापित होती है । यहां का "भूत" शब्द प्राणिवाचक है । न केवल मनुष्यों समाजों जातियों राष्ट्रों और राज्योंमें पारस्परिक सुव्यवहारसे शांति स्थापित होनेका उच्च ध्येय इस मंत्रद्वारा बताया है, प्रत्युत संपूर्ण प्राणिमात्रमें पारस्परिक सुव्यवहारसे शांति रहनी चाहिये, यह सबसे श्रेष्ठ ध्येय यहां बताया गया है । पाठक यहां विचार करें कि, इस वैदिक आदर्शसे आजकलकी जनता कितनी दूर है । आजकल मनुष्यों और इतर प्राणियोंकी पारस्परिक सुव्यवहारसे शांति तो दूर रही, परंतु मनुष्योंमनुष्योंमें, जातियों और संघोंमें, राष्ट्रों और राज्योंमें भी शांति नहीं स्थापित हुई है !!! आज कलके पश्चिमीय विद्वान् तथा राष्ट्रधुरंधर पुरुष दूसरोंका घात करके अपनी ही केवल उन्नति करने और स्वार्थी व्यवहारसे ही जगत्में शांति प्रस्थापित करनेकी चेष्टा कर रहे हैं !! परंतु यह कैसे सिद्ध होगा ? क्यों कि वेद कहता है कि "पहिले अपना हृदय शांत होना चाहिये और उसमें सार्वभौमिक मित्र दृष्टिका उदय होना चाहिये तभी शांति हो सकती है ।" (देखो यजु. अ. ३६ "सच्ची शांतिका सच्चा उपाय") जबतक अपने हृदयमें घात पातके भाव हैं,

तब तक वह हृदय शांतिके विचार कदापि फैला नहीं सकता । अस्तु । इस प्रकार अपनी अंतःकरण शुद्धिद्वारा शांति सिद्ध करके, अपने कुटुंब, जाति, संघ, समाज, देश, राष्ट्र, साम्राज्य, और जगत्में शांति बढानेका प्रशंसनीय कार्य क्रमशः होना चाहिये । यह वैदिक आदर्श है । (३) तीसरी शांति "आधिदैविक शांति" है, पूर्वोक्त दो शांतियोंकी स्थापना होनेके पश्चात् इसकी सिद्धि होती है । पृथिवी, आप्, तेज, वायु, सूर्य, चंद्र, विद्युत् आदि सब देव हैं । इनके द्वारा जो शांति स्थापित होती है वह आधिदैविक शांति है । इन अग्नि वायु आदि देवताओंको यज्ञादिसे प्रसन्न और अनुकूल करके उनसे शांति स्थापित करनेका प्रबंध इस शांतिके प्रकरणमें होना है । सब जनताके मिलकर प्रयत्नसे यह बात सिद्ध हो सकती है ।

इस शांतिके विषयमें "ईशोपनिषद्" की व्याख्यामें जो लिखा है वह भी पाठक देखें । अस्तु । इन तीनों प्रकारकी शांतियोंद्वारा वैयक्तिक, सामुदायिक और सार्वदेशिक शांतिका अत्यंत उच्च और श्रेष्ठ आदर्श यहां सबके सामने वेदने रखा है । पाठक इसका खूब विचार करें, और इन विषयोंमें अपना कर्तव्य करनेके लिये सिद्ध हो जावें ।

(१४) व्यक्ति, समाज और जगत् ।

वेद और उपनिषदोंमें जो ज्ञान है, उसकी व्याप्ति "व्यक्ति समाज और जगत्" में है । उक्त तीनों स्थानोंमें जो सर्वसाधारण नियम हैं, वेही वेद और उपनिषदोंमें हैं, इसी लिये ये नियम त्रिकालाबाधित हैं । यही कारण है कि इनको "सनातन" कहा जाता है । येही वेदके "ऋत और सत्य" नियम हैं और येही अटल सिद्धांत हैं । वेदमंत्रोंका अथवा उपनिषद्वचनोंका विचार करनेके समय उक्त बातका अवश्य अनुसंधान रखना चाहिये । प्रकृत केन उपनिषद्का विचार करनेके समय निम्न प्रकार उक्त बातका अनुसंधान हो सकता है ।

वैदिक सूक्तों और उपनिषद्वचनों में हरएक स्थानमें उक्त तीनों भाव व्यक्त रीतिसे बतायेही हैं, ऐसी बात नहीं है । यदि हरएक स्थानमें बताये होते, तो इस प्रकार विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं थी । कई स्थानपर एक ही बातका उल्लेख है, कई स्थानोंमें दो बातोंका उल्लेख है, परंतु

कई स्थानोंपर तीनोंका स्पष्ट उल्लेख है, जहां जो उल्लेख है उससे अनुक्त बातका अध्याहार करके बोध लेना चाहिये, यही वेदका "गुप्त रहस्य" है। जो इस विधिको जानेंगे वे वेदकी संगति लगा सकते हैं। अब प्रस्तुत उपनिषद्के विचारके समय देखिये इसका क्या फल निकलता है—

उपनिषद्	आध्यात्मिक भाव	आधिभौतिक भाव	आधिदैविक भाव
१ प्रथम शांतिमंत्र	०	उक्त	०
२ द्वितीय शांतिमंत्र	उक्त	०	०
३ केनोपनिषद् प्रथम दो खंड	उक्त	०	०
४ अंतिम दो खंड	०	०	उक्त

किसमें कौनसा भाव उक्त है वह ऊपरके कोष्टकमें बताया है; जो भाव उक्त नहीं है, उसको बतानेके लिये (०) ऐसा चिन्ह रखा है। उक्त विधानोंसे अनुक्त भावोंका अध्याहार करना चाहिये। उसकी रीति निम्न कोष्टकसे स्पष्ट होगी—

शांतिके मंत्र	आध्यात्मिक Individual	आधिभौतिक Social	आधिदैविक Cosmic
प्रथम शांति-मंत्र।	(१) श्रेष्ठ कनिष्ठ इंद्रियोंका संरक्षण, (२) पोषण, (३) मिलकर पराक्रम, (४) तेजस्वीपन, और (५) अविरोध करना। इ.	(१) श्रेष्ठ कनिष्ठोंका संरक्षण, (२) भोजन, (३) पराक्रम, (४) तेजस्वी ज्ञान, (५) अविरोध करना। इ.।	अग्नि जल आदि सब शक्तियोंका संरक्षण, पोषण, उनसे पराक्रम, तेजवर्धन करके, उनको अविरोधी बनाना। इ.।

द्वितीय शांति-मंत्र ।	(१) सब इन्द्रियों और आत्मशक्तियों-का वर्धन, (२) ज्ञानकी प्राप्ति और पूर्णता, (३) किसीसे ज्ञानका और ज्ञानसे किसीका विरोध न हो, (४) धारण पोषण और वर्धनके सब नियमोंका योग्य पालन करना । इ.	(१) सब मनुष्यों और उनकी शक्तियोंका संवर्धन, और (२) मनुष्योंमें ज्ञानका प्रचार करना, (३) ज्ञानप्रचारमें किसी प्रकारका प्रतिबंध न करना, (४) धारण पोषणके सब नियम पालन करके सब जनताकी वृद्धि करनी । इ. ।	पृथिव्यादि सब तत्वोंका संरक्षण, उनके गुणविज्ञानका वर्धन, उस ज्ञानकी पूर्ण उन्नति और उनके धारण पोषण करनेकी सब विद्या प्रकाशित करनी । इ.
उपनिषद् प्रथम खंड ।	(१) सब इंद्रियां आत्माकी शक्तिसे प्रेरित होतीं हैं ।	(१) सब लोग राष्ट्र शक्तिसे प्रेरित होते हैं ।	(१) सब पृथिव्यादि तत्व परब्रह्मकी शक्तिसे अपना अपना कार्य करते हैं ।
	(२) जो किसी इंद्रियकी सहायता नहीं चाहता, परंतु जिसकी सहायतासे सब इंद्रिय अपना अपना कार्य करते हैं वह अमूर्त आत्मशक्ति है ।	(२) जो किसी व्यक्तिकी सहायता नहीं चाहता, परंतु सब व्यक्तियां जिसकी शक्तिके आश्रयसे बलवान होतीं हैं, वह अमूर्त राष्ट्रीय शक्ति है ।	(२) जो किसी अग्नि आदिकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता, परंतु जिसकी सहायतासे अग्नि आदि देव कार्य करते हैं वह अमूर्त परब्रह्म है ।
द्वितीय खंड	(३) आत्माका ज्ञान होना बडा कठिन है, परंतु उस ज्ञानको अवश्य प्राप्त करना चाहिये, नहीं तो बड़ी हानी होगी ।	(३) सार्वजनिक भाव अंतःकरणमें उत्पन्न होना कठिन है, परंतु उसको अंतःकरणमें अवश्य बढाना चाहिये, नहीं तो निःसंदेह घात होगा ।	(३) परब्रह्मकी कल्पना करना कठिन है, परंतु उसका जितना हो सकता है, उतना ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, नहीं तो कठिन अवस्था होगी ।

तृतीय खंड	(४) आत्माकी अमूर्त शक्तिही वाणी, प्राण और मनमें कार्य करती है।	(४) राष्ट्रकी अमूर्त शक्ति ही ज्ञानी, शूर और राजपुरुष आदिमें कार्य करती है।	(४) ब्रह्मकी शक्ति ही अग्नि, वायु, इंद्र आदि देवोंमें कार्य करती है।
	(५) आत्माकी शक्तिके विना वाणी, प्राण, मन आदि इंद्रिय स्वकीय कार्य करनेमें असमर्थ हैं।	(५) राष्ट्र शक्तिकी सहायताके विना ज्ञानी, शूर आदि पुरुष स्वकीय कार्य करनेमें असमर्थ हैं।	(५) ब्रह्मकी शक्तिके विना अग्नि, वायु, इंद्र आदि देव स्वकीय कार्य करनेमें असमर्थ हैं।
चतुर्थ खंड	(६) आत्माकी शक्तिसे प्रभावित होकर सब इंद्रिय कार्य कर रहे हैं।	(६) राष्ट्र शक्तिसे ही प्रभावित होकर सब वीर कार्य कर रहे हैं।	(६) ब्रह्मकी शक्तिसे ही सब देव प्रभावित होकर कार्य करते हैं।
	(७) मन	(७) तत्वज्ञानी, विद्वान्।	(७) विद्युत्
	(८) तप, दम, कर्म, सत्य, वेद।	(८) तेजस्विता, शत्रुदमन, पुरुपार्थ, सत्याग्रह, ज्ञान।	(८) उष्णता, आकर्षण, गति, नियम, शब्द।
शांतिः (त्रिवार)	व्यक्तिविपयक शांति ["नर"में शांति]	जनतामें शांति ["वैश्वानर"में शांति]	जगत्में शांति ["नारायण"की शांति]

जो उपदेश मंत्रमें प्रतिपादित है वह इस कोष्टकमें बडे अक्षरोंमें दिया है, और जो अध्याहारसे लिया है, वह सूक्ष्म अक्षरमें रखा है। पाठक यहां देखेंगे कि, केन उपनिषद्के प्रथम और द्वितीय खंडमें वैयक्तिक अर्थात् आध्यात्मिक उपदेश है, और तृतीय-चतुर्थ खंडोंमें आधिदैविक अर्थात् विश्वविषयक तत्वज्ञान है। इन दोनोंके विचारसे जो हमने अध्या-

हार किया है, वह कितना परस्पर मिलाजुला है, यह बात सूक्ष्म रीतिसे देखने योग्य है। शांतिमंत्रोंमें जनताविषयक उपदेश स्पष्ट है, परंतु उपनिषद्में नहीं है, तथापि पूर्वापर कथनके अनुसंधानसे वह जानना सुलभ है। इस लिये जो अध्याहारसे निष्कर्ष किया जा सकता है, वह ऊपरले कोष्टकमें लिखाही है। आध्यात्मिक कोष्टकमें केवल व्यक्तिकी संपूर्ण शक्तियोंका वर्णन, आधिभौतिक कोष्टकमें केवल जनताकी संपूर्ण शक्तियोंका वर्णन, और आधिदैवतमें संपूर्ण जगद्व्यापक परब्रह्म शक्तिका वर्णन होता है। क्रमशः इनको संकेतसे **"नर, वैश्वानर और नारायण"** भी कहा जा सकता है। यह वर्णन अधिक स्पष्ट होनेके लिये केन उपनिषद् तथा उसके शांतिमंत्रोंके मुख्य शब्दोंके तीनों स्थानोंके भाव निम्न कोष्टकमें लिखे जाते हैं।

मंत्रोंके शब्द.	आध्यात्मिक भाव. (नरविषयक)	आधिभौतिक भाव. (वैश्वानरविषयक)	आधिदैवत भाव. (नारायणविषयक)
वीर्य	वीर्य (धातु)	वीर पुरुष	निसर्ग सामर्थ्य
विद्वेष	इंद्रियोंका विषम विकास	भिन्न जातियोंका विषम विकास	निसर्ग प्रकोप
अंगानि	इंद्रिय, अवयव	जाति, वर्ण	तत्व, देवता
वाक्	वाचा	ब्राह्मण, उपदेशक, ज्ञानी	अग्नि
प्राण	श्वास, उच्छ्वास	वीर, शूर	वायु, (वीरभद्र)
चक्षु	दृष्टि	निरीक्षक वर्ग	सूर्य
श्रोत्र	श्रवण शक्ति	श्रोतृवर्ग, शिष्य (जिनको दिशा बतानी है)	दिशा
बल	शक्ति	चतुरंग बल, सैन्य	मरुद्गण
इंद्रियाणि	इंद्रियां	राज्याधिकारी	देवतागण
मन	विवेक शक्ति	मंत्री, तत्वज्ञानी तथा विचारी लोग	विद्युत, चंद्र
धीराः	धैर्य	धैर्यसंपन्न लोग	धारक देव
ब्रह्म	शरीरमें आत्मा (नर)	जनतात्मा (वैश्वानर)	जगत्में परमात्मा (नारायण)
देवाः	इंद्रियां वाणी, प्राण, मन इ.	पंचजन। ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और अशिक्षित।	देवता। अग्नि, वायु, इंद्र इ.।

अग्नि वायु इंद्र	वाक्शक्ति प्राणशक्ति मन,	ब्राह्मण वीर, शूर राजा, राजपुरुष	अग्नि वायु विद्युत्
उमा	कुंडलिनी शक्ति	प्रजाशक्ति, रक्षकशक्ति	मूलप्रकृति

इस कोष्टकसे ज्ञात होगा कि, वैदिक शब्दोंका संकेत किस प्रकार है। यद्यपि यह कोष्टक कई अंशोंमें अपूर्ण है, तथापि वह मुख्य प्रतिपाद्य विषय समझानेके लिये जितना चाहिये, उतना पूर्ण है। इस लिये पाठक इसका अधिक विचार करके इन संकेतोंको ठीक ठीक जाननेका यत्न करें। इससे न केवल वे उपनिषदोंका आशय पूर्णतासे जान सकेंगे, प्रत्युत संपूर्ण वैदिक भाव ध्यानमें लानेके लिये योग्य होंगे। आशा है कि, पाठक इस विषयका यहां अधिक मनन करेंगे। अस्तु। यहांतक सामान्य विवेचन हुआ, अब केन उपनिषद् और केन सूक्त, इन दोनोंकी तुलना करनी है। इस कार्यके लिये प्रथम अथर्ववेदीय केन सूक्तका भाव देखिये—

(१५) केन सूक्तका आशय।

"(१) आध्यात्मिक प्रश्न-(वैयक्तिक प्रश्न)=मनुष्यके शरीरमें एडी, टखने, अंगुलियां, इंद्रियां, पांवके तलवे, किसने बनाये हैं? शरीरपर मांस किसने चढाया है? घुटने और जांघे किसने बनाईं? पेट, छाती, कुल्हे आदिसे बना हुआ उत्तम धड किसका रचा हुआ है? कितने देवोंनें मिलकर छाती और गला आदि बनाया? बाहु, कंधे, कोहनियां, स्तन, पसलियां किसने बनाईं? आंख नाक आदि इंद्रियोंकी रचना किसने की? जिव्हा और प्रभावशाली वाणी किससे प्रेरित होती है? यहां कर्म करता हुआ जो गुप्त है वह कौन है? मस्तिष्ककी रचना किसने की? प्रिय और अप्रिय पदार्थ क्यों प्राप्त होते हैं? शरीरमें नस नाडियोंकी योजना किसने की है? इसमें सुंदरता और यश किसने धारण किया है? यहां प्राणोंका संचालक कौन है? इसका जन्म और मृत्यु कैसे होता है? संतति उत्पन्न होने योग्य रेत इस देहमें किसनें रखा है? (मंत्र १ से १५, १७)"

"(२) आधिभौतिक प्रश्न-(जनता विषयक प्रश्न) = मनुष्योंमें पुरुषार्थ और श्रद्धा कैसी होती है? विद्वान कैसे प्राप्त होते हैं? ज्ञानी बननेके लिये कैसे गुरु मिलते हैं? दैवी प्रजाओंमें दिव्यजन कैसे रहते हैं! प्रजाओंमें क्षात्रतेज कैसा उत्पन्न होता है? (मंत्र २०, २२)"

"(३) आधिदैविक प्रश्न-(जगद्विषयक प्रश्न)-जल, प्रकाश आदि किसके बनाये हैं? भूमि और द्युलोक किसने बनाया है? पर्जन्य और चंद्रका बनानेवाला कौन है? (मंत्र १६, १८, १९)"

"(४) सब प्रश्नोंका एक उत्तर—यह सब ब्रह्मका बनाया है। (मंत्र २१, २३, २५)"

"(५) विशेष उपदेश—मस्तिष्क और हृदयको एक करके, प्राण मस्तिष्कके ऊपर ले जाओ। यह योगीका सिर देवोंका खजानां है। उसका प्राण मन और अन्न रक्षण करते हैं। पुरुष सर्वत्र व्यापक है। जो इस पुरुषकी ब्रह्मनगरीको जानता है, उसको ब्रह्म और सब इतर देव बल, आरोग्य और प्रजा देते हैं। वह अकाल मृत्युसे मरता नहीं। इस देवनगरी अयोध्यामें नौ द्वार हैं और आठ चक्र हैं, इसीमें तेजस्वी स्वर्ग है। इसमें वह यक्ष रहता है जिसको आत्मज्ञानी ही जानते हैं। (मंत्र २६ से ३३)"

(१६) केन सूक्तकी विशेषता।

इस प्रकार यह केन सूक्तका तात्पर्य है। केन उपनिषद्में मंत्र ३४ हैं और केन सूक्तमें ३३ हैं, परंतु केन सूक्तमें उपदेश अधिक है। केवल प्रश्नोंकी संख्या ही देखी जायगी तो केन उपनिषद्में केवल चार पांच प्रश्न हैं, परंतु केन सूक्तमें ७० से अधिक प्रश्न हैं। कई लोग कहेंगे कि, केवल अधिक प्रश्न होनेसे उत्तमता नहीं सिद्ध होगी। यह किसी अंशमें ठीक भी है। परंतु जो पाठक इन प्रश्नोंका ही केवल सूक्ष्म दृष्टिसे दूरतक विचार करेंगे, उनको पता लग जायगा कि, ये प्रश्न ही केवल जाननेसे कितनी विचार शक्ति और शोधक बुद्धि बढ जाति है!! ये प्रश्न यौं हि नहीं किये गये हैं, परंतु चिकित्सक बुद्धि उत्पन्न होने के लिये ही इनकी योजना है।

केन सूक्तमें दूसरी विशेष बात यह है कि, इसमें जनताविषयक भी प्रश्न हैं, केन उपनिषद्में जनताविषयक प्रश्न बिलकुल नहीं हैं । मानवी उन्नतिका विचार करनेके समय जैसा व्यक्तिका विचार करना चाहिये वैसा जनताका भी विचार होना चाहिये। इस दृष्टिसे केन सूक्त अधिक पूर्ण है ।

केन सूक्तकी तीसरी विशेषता "हृदय और मस्तकको एक करनेके उपदेशमें है ।" यह २६ वां मंत्र अमूल्य है । किसी उपनिषद्में यह नहीं है । आत्मिक उन्नतिके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है, इस विषयमें केन सूक्तके विवरणके प्रसंगमें जो लिखा है, वह पाठक अवश्य पढें और उसका बहुत विचार करें ।

केन सूक्तमें २६ से ३३ तक जो मंत्र हैं, उनकी विशेषता स्पष्ट है । जो आत्मशक्तिके अद्भुत सामर्थ्यका वर्णन वहां है, वह अवश्य देखने योग्य है । अपने शरीरमें, अपने ही हृदयाकाशमें स्वर्गधाम का अनुभव करनेके विषयमें जो केन सूक्तका कथन है, वह इसकी ही विशेषता है । तात्पर्य ये सब बातें केन सूक्तमें हैं, और केन उपनिषद्में नहीं हैं । तथापि युरोपके विद्वान् और उनके ही आंखोंसे देखनेवाले एतद्देशीय पंडित कहते हैं कि, वेदके मंत्रोंमें अध्यात्मविद्या नहीं है और वह उपनिषदोंमें विकसित होगई है !!! जिनका यह मत होगा, उनके अज्ञानकी कोई भी सीमा नहीं है । और जबतक निरभिमान वृत्तिसे वह वेद मंत्रोंका ज्ञान नहीं प्राप्त करेंगे, तबतक उनका अज्ञान दूर भी नहीं हो सकता ।

हमारी दृष्टिसे उपनिषद्की योग्यता किसी अंशमें भी कम नहीं है; परंतु जो वेदके निंदक हैं; उनको उत्तर देनेके लिये ही उक्त विचार और तुलनात्मक संगति लिखना आवश्यक हुआ है । उससे कोई यह न समझे कि उपनिषद्में ज्ञानकी न्यूनता है । वास्तविक बात यह है कि, संपूर्ण वेद मंत्रोंके साथ ही उपनिषद् मिले जुले हैं । वेदमंत्र उपनिषदोंके अंग ही हैं । इस लिये वैदिक दृष्टिसे उनमें उच्चनीचता नहीं है । परंतु आजकल अज्ञानके कारण उनमें उच्चनीचता मानने लगे हैं, इस लिये उनका खंडन करनेके लिये ही यह तुलना की है ।

(१७) ईश और केन उपनिषद् ।

ईश उपनिषद् "मंत्रोपनिषद् अर्थात् वैदिक संहितांतर्गत उपनिषद्"

होनेसे सब उपनिषदोंमें श्रेष्ठ है; तथा अन्य उपनिषद् ब्राह्मण और आरण्यकोंमें होनेसे उससे किंचित् कम हैं। इतना ही केवल नहीं, परंतु अन्य उपनिषद् ग्रंथ ईशोपनिषद् के एक एक टुकडे पर केवल व्याख्यान रूप ही हैं। सबसे विस्तृत बृहदारण्यक उपनिषद् ईशउपनिषद्का भाष्य ही है; परंतु जो लोग इस बातको जानते नहीं, वे बृहदारण्यकको स्वतंत्र उपनिषद् ही मान रहे हैं!! इसका प्रमाण देखनेके लिये बहुत अन्वेषण की भी आवश्यकता नहीं है। संपूर्ण वाजसनेयी संहितापर शतपथ ब्राह्मण "दौडती टीका" अथवा (running commentary) "श्रुति-भाष्य" है। काण्वसंहिता के पाठानुसार काण्व शतपथ है। दोनों शाखाओंमें थोडासा पाठभेद है। जो भेद ईशोपनिषद्में और वाजसनेयी यजुर्वेदके ४० वे अध्यायमें है, वही काण्व और वाजसनेयी संहिताओं और शतपथोंमें है। काण्व वाजसनेय यजुःसंहिताका चालीसवां अध्याय "ईशोपनिषद्" है और शतपथ ब्राह्मणका अंतिम भाग बृहदारण्यक उपनिषद् है। इससे पाठकोंके ध्यानमें आ जायगा कि किस रीतिसे ईशोपनिषद्का भाष्य बृहदारण्यक है। इसी प्रकार अन्य उपनिषद् ईशोपनिषद्के एक एक टुकडेके व्याख्यान रूप हैं। प्रस्तुतका "केन" उपनिषद् निम्न मंत्रभागकी व्याख्या है—

नैनद् देवा आप्नुवन् ।

ईश. उप. ४; वाज. सं. अ. ४०।४; काण्व. सं. ४०।४

"देव (एनत्) इस ब्रह्मको (न आप्नुवन्) नहीं प्राप्त कर सकते।" यहां "देव" शब्दके तीन अर्थ हैं; (१) इंद्रियां, (२) पंडित, और (३) अग्नि आदि देवतायें। ये तीनों ब्रह्मको नहीं देख सकते।

इस केन उपनिषद्में कहा ही है, कि वाणी, नेत्र, श्रोत्र, प्राण, मन आदि इंद्रियोंको आत्माका साक्षात्कार नहीं होता; तथा अग्नि, वायु, इंद्र, आदि देवोंको भी ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता। केन उपनिषद् में जो कहा है वह ईश उपनिषद्के एक मंत्रके चौथे हिस्से में कहा है; अथवा यों कहिये, कि जो ईशोपनिषद्के उक्त मंत्रभाग में कहा है, अथवा यजुर्वेदके मंत्रभागमें कहा है, वही विस्तृत व्याख्यानरूपसे केन उपनिषद्में कहा है। कोई अधिक बात नहीं कही। पूर्वोक्त मंत्रमें जो और अर्थ है कि

"पंडित भी उस ब्रह्मको नहीं जानते," अर्थात् केवल पुस्तक पढनेवाले विद्वान् उस ब्रह्मको जानते नहीं, यह भाव अन्य उपनिषदोंमें व्याख्यानरूपसे बताया है। उदाहरण के लिये छांदोग्य उपनिषद्में नारद और सनत्कुमारकी कथा देखिये। (देखिये छां. अ. ७।१) पाठक यहां देखें कि वेदके मंत्रोंके अर्थकी व्यापकता कितनी है। जिस वेदके एक एक मंत्रभागकी व्याख्या ही अन्य ग्रंथ कर रहे हैं, उस वेदके ज्ञानामृतका पारावार क्या कहना है? अस्तु। यहां इतनाही कहना है कि, उक्त यजुर्वेदके मंत्रभागमें जो कहा है, उसका दो तिहाई भाग ही इस केन उपनिषद्में है। तथापि यह केन उपनिषद् आत्माके उपासकोंकी तृष्णा शांत करनेके लिये जितना चाहिये उतना परिपूर्ण है। यही आर्ष वाङ्मयकी श्रेष्ठता है। इस बातको जो नहीं समझते, वे वेदसंहिताओंको हीन समझते हैं, और दूसरे कई उपनिषदोंको किसी अन्य दृष्टिसे न्यून मानते हैं। परंतु वास्तविक दृष्टिसे दोनों लोग गलती पर हैं। इस लिये पाठकोंको उचित है कि, वे उक्त भ्रांत दृष्टिको छोडकर हमारे ग्रंथोंका स्वारस्य देखें, और अपने अभ्युदय निःश्रेयसकी सिद्धिका मार्ग जानने और तदनुसार अनुभव करनेका यत्न करें।

(१८) "यक्ष" कौन है?

केन उपनिषद्में कहा है कि "वह परब्रह्म यक्षरूपसे देवोंके सन्मुख प्रकट हुआ।" अर्थात् यह "यक्ष" निर्गुण ब्रह्मका सगुणरूप ही है। वास्तविक "यक्ष" का मूलभाव जाननेके लिये अथर्ववेदके केन सूक्तका ३२ वां मंत्र देखना चाहिये। "जिसमें आठ चक्र हैं, नौ दरवाजे हैं ऐसी देवोंकी अयोध्या नगरी है, इसके तेजस्वी कोशमें प्रकाशमय स्वर्ग है। इसी तेजस्वी कोशमें आत्मवान् यक्ष है।" (अथर्व. १०।२।३१-३२) अर्थात् यह स्वर्गधाम हमारे हृदय कोशमें है, और वहां ही "आत्मवान् यक्ष" महाराज रहते हैं। यही यक्ष ब्रह्मका प्रकट स्वरूप है, मानो अलंकारसे ब्रह्मने देवोंका अहंकार दूर करनेके लिये इस कर्मभूमिपर यक्षका अवतार ही लिया है!! यहां "कर्मभूमि" शरीर ही है, और "आत्मन्वत् यक्ष" रूपसे देवोंके सामने ब्रह्म प्रकट

हुआ है । यदि पाठक केन सूक्तके ३१ और ३२ मंत्र केनोपनिषद्के १४ और १५ मंत्रोंके साथ पढेंगे, तो उनको पता लग सकता है, कि उक्त अ-लंकार की कल्पना कैसी करनी चाहिये । इस शरीररूपी कर्मभूमिमें पृथिवी, अग्नि, जल, वायु, विद्युत्, सूर्य, चंद्र आदि सब ही देवोंनें अंशरूपसे अवतार लिये हैं और दुष्टोंका शमन करनेका कार्य चलाया है; परंतु यह कार्य करनेकी शक्ति इनमें ब्रह्मसे ही प्राप्त होरही है । इस कर्मभूमिपर अथवा युद्धभूमिमें जो इन देवोंका विजय हो रहा है, वह ब्रह्मके कारण ही है; परंतु यह बात देव भूल गये, और घमंड करने लगे कि, हम ही समर्थ हैं । इस घमंडको दूर करनेके लिये वह ब्रह्म प्रकट हुआ जो "आत्मन्वत् यक्ष" रूपसे देवोंके सामने आया । परंतु किसी देवने उसको जाना नहीं । यह सब कथा कितने गूढ अलंकारसे युक्त है, इसका पता उक्त विचारसे लग सकता है । अब पाठकोंको कल्पना हुई होगी, कि उक्त अलंकार कहां बना था, और इस समय भी किस देशमें बन रहा है और उसका मूल वास्तविक स्वरूप क्या है । इतना विचार होनेके पश्चात् यक्षविषयक और थोडासा विचार करना आवश्यक है, वह अब करेंगे । वेदमें यक्षका वर्णन अथर्ववेदके निम्न मंत्रोंमें आया है, ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेदमें कोई विशेष यक्षविषयक उल्लेख नहीं है । ऋग्वेदमें "यक्ष" शब्द "यज्ञ, पूज्य" वाचक ही है । अथर्ववेदमें ही हम इसका "आत्मा" वाचक भाव देखते हैं । देखिये निम्न मंत्र—

> यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त
> उपतिष्ठमानाम् ॥ यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति
> सा विराड्ृषयः परमे व्योमन् ॥ ८ ॥
>
> अथर्व. ८।९।८

"हे (ऋषयः) ऋषि लोगो ! (यां प्रच्युतां) जिसके चलनेपर सब यज्ञ (प्रच्यवन्ते) चलते हैं, जिसके (उपतिष्ठमानां) स्थिर रहनेसे सब यज्ञ स्थिर रहते हैं, (यस्याः) जिसके (व्रते) नियममें और (प्रसवे) सहायतामें ही (यक्षं एजति) यक्ष चलता है (सा) वह (परमे व्योमन्) महान आकाशमें 'विराज्' है ।"

इस मंत्रमें दो पदार्थोंका उल्लेख है, एक (१) यक्ष और दूसरा (२) विराज्। मंत्रमें स्पष्ट कहा है कि, "विराज् के नियम और प्रभुत्वमें यक्ष रहता है।" अर्थात् "विराज्" महान् है और "यक्ष" छोटा है। उक्त मंत्रके वर्णनसे स्पष्ट दिखाई देता है कि, यहां का "विराज्" वा "विराड्" शब्द यद्यपि स्त्रीलिंगमें है तथापि परमात्माका वाचक है। क्यों कि "वह परम आकाशमें व्याप्त है, उसके नियमोंके अनुसार ये यक्ष फिरते हैं, और उसके अनुकूलतासे यज्ञ किये जाते हैं।" "विराड्" शब्द परमात्मवाचक और "यक्ष" शब्द जीवात्मवाचक प्रतीत होता है। "विराट्" शब्द विशेष तेजस्विताका भाव बताता है, और "यक्ष" शब्द पूज्यताका अर्थ बता रहा है। जीवात्माओं की गति परमात्माके (व्रते, प्रसवे) नियम और सहाय्यसे हो रही है, यह बात अनुभवकीही है। इस अथर्ववेदके मंत्रमें यक्षशब्द जीवात्मवाचक प्रतीत होता है। तथा स्त्रीलिंगी "विराड्" शब्द परमात्मवाचक है। यही कारण है कि, देवी-भागवत की कथामें स्त्रीलिंगी "देवी" शब्दसे उसका उल्लेख किया है। तथा और देखिये—

को नु गौः, क एक ऋषिः, किमु धाम, का आशिषः ॥
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥
एको गौरेक एक ऋषिरेकं धामैकधाशिषः ॥
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नातिरिच्यते ॥ २६ ॥

अथर्व. ८।९।

"प्रश्न—कौनसी एक गाय है? कौन एक ऋषि है? कौनसा एक स्थान है? कौनसा आशीर्वाद है? पृथिवीमें जो (एकवृत् यक्षं) एक व्यापक यक्ष है वह कौनसा है? और एक ऋतु कौनसा है"?

"उत्तर—एकही गाय है, एकही ऋषि है, एक ही धाम है, और एक प्रकारकाही आशीर्वाद है। पृथ्वीमें व्यापक यक्ष एकही है, और ऋतु भी एकही है जिसमें न्यूनाधिक नहीं होता।"

इसके सबही कथन विचार करने योग्य हैं, परंतु यहां स्थान नहीं है। सर्वव्यापक यक्ष एकही है ऐसा यहां कहा है, अर्थात् एकही सूक्तमें

(मंत्र ८ में) यक्षशब्द जीवात्मवाचक और (मंत्र २५, २६ में) सर्वव्यापक परमात्माका वाचक आगया है। केन उपनिषद् तथा केन सूक्तमें भी "ब्रह्म" शब्द जीवात्म-परमात्माके लिये आया है। वही बात यहांके "यक्ष" शब्दके विषयमें है। तथा और देखिये—

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रांतं सलिलस्य
पृष्ठे ॥ तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य
स्कंधः परित इव शाखाः ॥　　　　　　अथर्व. १०।७।३८

"भुवनके मध्यमें (सलिलस्य पृष्ठे) प्रकृतिके समुद्रके पीछे (महत् यक्षं) बडा यक्ष है, (तपसि क्रांतं) तेजमें विशिष्ट है। जो कोई अन्य देव हैं (तस्मिन्) उसीमें (श्रयन्ते) रहते हैं, जैसा वृक्षका धड (शाखाः परितः इव) और चारों ओर शाखायें होती हैं।"

वृक्षका धड या पेड बीचमें होता है, और उसके चारों ओर उसकीं शाखायें फैलतीं हैं, उस प्रकार त्रिभुवनके केंद्रमें मूलप्रकृतिके पीछे वह बडा यक्ष है, और अन्य देव उसके चारों ओर उसके आश्रयसे हैं। यह मंत्र जीवात्मपरमात्माके लिये समानही है क्यों कि "देव" शब्द इंद्रियवाचकभी है। जीवात्माके पक्षमें इसका अर्थ निम्न प्रकार होता है— "(भुवनस्य) बनेहुए इस शरीरके बीचमें, परंतु प्रकृतिके परे, एक बडा यक्ष है, वह तेजसे विशिष्ट है। उसमेंही सब इंद्रियां आश्रित हैं, जैसी शाखायें वृक्षके धडके आश्रयसे रहतीं हैं।" तात्पर्य यहांका "यक्ष" शब्द दोनोंके लिये समान है। केन उपनिषद् में ये दोनों भाव हैं, पाठक इन मंत्रोंका विचार करते करते देखते जांय, कि उपनिषदोंमें जो जो उपदेश हैं, वे वेदमंत्रोंमें कैसे हैं। इस एकही मंत्रमें जो कहा है, वही केनोपनिषद्में विस्तारसे कहा है। अस्तु। अब और देखिये—

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥

अथर्व. १०।८।१५

"त्रिभुवनके बीचमें जो बडा यक्ष है, उसके लिये ही राष्ट्रके भृत्य अपना बलि देते हैं।" अर्थात् जो राष्ट्रके सेवक होते हैं, जो राष्ट्रके उद्धारके लिये प्रयत्न करते हैं, वे अपना जो बलिदान करते हैं, वह उसी महान् आत्माके

लिये है; तात्पर्य राष्ट्रीय उन्नतिके लिये जो धार्मिक प्रयत्न होते हैं, वे भी उस महान् आत्माकी एक प्रकारकी पूजाही है। तथा और देखिये—

पुंडरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ॥
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

अथर्व. १० ।८।४३

"(नव–द्वारं पुंडरीकं) नौ द्वारोंसे युक्त एक कमल है, जो तीन गुणों-से बंधा है, उसमें आत्मन्वत् यक्ष है, जिसको ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं।" यहांका नौ द्वारोंका कमल इस शरीरमेंही है, और वह तीन गुणोंसे (सत्व–रज–तमसे) युक्त है। उसीमें आत्मवान् यक्ष रहता है, जिसको ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। इस मंत्रके शब्दही केन सूक्तमें आये हैं। यही "आत्मवान् यक्ष" है। उक्त मंत्रोंका विचार होनेसे इस यक्षकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

(१९) हैमवती उमा देवी कौन है ?

केन उपनिषद्में कहा है कि "जब देवोंका राजा इंद्र उस यक्षके सन्मुख गया, तब वह यक्ष गुप्त हुआ। तत्पश्चात् उसी आकाशमें हैमवती उमा आगई, और उस उमाने इंद्रसे कहा कि, वह ब्रह्म था कि जिसके कारण देवोंका जय हुआथा; और जो देवोंके सन्मुख यक्षरूपसे प्रकट हुआ था।" यहां प्रश्न होता है कि, यह "हैमवती उमा" कौन है ? भाष्यकार आचार्य कहते हैं कि यह ब्रह्मविद्या है, देखिये—

(१) विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत् स्त्रीरूपा । स इंद्रस्तां उमां बहु शोभमानां······विद्यां तदा बहु शोभमानेति विशेषणमुपपन्नं भवति । हैमवतीं हेमकृताभरणवतीमिव बहु शोभमानामित्यर्थः । अथवा उमा एव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेन ईश्वरेण सह वर्तत इति ज्ञातुं समर्थेति कृत्वा तामुपजगाम ॥ (शांकरभाष्य. केन. मंत्र. २५)

(२) स्त्रियमतिरूपिणीं विद्यामाजगाम । अभि-
प्रायोद्बोधहेतुत्वात् रुद्रपत्नी उमा हैमवतीव
सा शोभमाना विद्यैव । विरूपोऽपि विद्यावान्
बहु शोभते ॥ (शांकरभाष्य; वाक्यविवरण)
(३) हैमवतीं हिमवतः पुत्रीं ।

(श्री. रामानुज० रंगाचार्यभाष्य.)

इस प्रकार सब भाष्यकारोंनें "हैमवती उमा" इन शब्दोंके निम्न प्रकार दो अर्थ किये हैं—(१) "सुवर्णके आभूषणोंसे सुशोभित स्त्रीके समान शोभायमान ब्रह्मविद्या, तथा (२) हिमालय पर्वतकी पुत्री पार्वती उमा जो श्रीशंकर की धर्मपत्नी पुराणोंमें वर्णित है ।" अब विचार करना है कि, क्या ये अर्थ ठीक हैं । यह बात ठीक ही है कि दोनों अर्थ ठीक नहीं हो सकते, इनमेंसे कोई एक अर्थ ही ठीक होगा, अब विचार करके देखना चाहिये कि, कौनसा अर्थ प्रसंगानुकूल है ।

(२०) पं. श्रीधर शास्त्रीजीका मत ।

शांकरभाष्यमें प्रक्षेप ।

श्री. पं. श्रीधरशास्त्री पाठक, डेक्कन कालेजके संस्कृताध्यापक, महोदयजीनें केनोपनिषद्पर विस्तृत समालोचना की है, वे अपनी विस्तृत संस्कृत भूमिकामें "हैमवती उमा" का विचार करते हुए लिखते हैं—

"हैमवतीमित्यनेन हेमकृताभरणवतीमिवेति पदभाष्यकृतः प्रथमोऽर्थ एव श्रेयान् ।.........अथवा इत्यनेन प्रदर्शितस्य द्वितीयार्थस्य 'हिमवतो दुहिता हैमवती' इत्यस्य स्वीकारे बहुशोभमानेति विशेषणस्य निरर्गलत्वं संपद्यते । अयं द्वितीयोऽर्थः पौराणिकी या हिमवतो दुहिता पार्वतीति कल्पना तामुपजीव्य प्रवृत्तः स च भगवत्पूज्यपादैराद्यश्रीमच्छंकराचार्यैर्नाङ्गीकर्तुं शक्यते । आचार्यान्तरवत् पौराणिककल्पनामादृत्य तैः कुत्रापि ब्रह्मसूत्र-भाष्यादौ श्रुत्यर्थस्य सूत्रार्थस्य वानंगीकृतत्वात् । एवं चायमर्थोऽन्यकृतो लेखकप्रमादाद्भाष्यशरीरे प्रविष्ट इव भाति ।......अतएव हैमवतीशब्दस्य पौराणार्थो न श्रेयानिति सिद्धम् ।" (पृ. ७, ८)

इसका तात्पर्य यह है कि "भगवान् आद्य शंकराचार्य पौराणिकोंका मत स्वीकार करनेके पक्षपाती नहींथे, इसलिये उनके भाष्यमें हैमवतीका अर्थ, हिमालय पर्वतकी पुत्री पार्वती, ऐसा जो इस समय मिलता है, वह वास्तविक उनका नहीं है; किसी लेखकके दोषसे उस भाष्यमें प्रक्षिप्त हो गया है।" जो अपने मनके अनुकूल नहीं है, वह "प्रक्षिप्त" है, ऐसा कहना सुगम है; परंतु प्रक्षेपको सिद्ध करनेका बोझ कहनेवालेपर है, यह बात पं. श्रीधर शास्त्रीजी भूल गये!! यदि भारतवर्षमें स्थानस्थानोंमें उपलब्ध होनेवाले शांकर भाष्यके पुस्तकोंमेंसे कईयोंमें उक्त अर्थ न मिलता, तो पं. श्रीधर शास्त्रीजीका कहना विचार करने योग्य भी समझा जाता; परंतु जिस कारण किसी एकभी पुस्तककी साक्षी शास्त्रीजीके लिये अनुकूल नहीं है, और संपूर्ण उपलब्ध पुस्तकोंके शांकरभाष्यमें "हिमवतो दुहिता हैमवती" ऐसा अर्थ मिलता है, उसकारण शास्त्रीजीका अनुमान विद्वानोंमें आदरणीय नहीं हो सकता। वास्तविक बात यह है कि, दोनों अर्थ आद्य शंकराचार्यजी महाराजको मान्य थे, इसलिये उन्होंनें लिखे हैं, और उनमें हेतुभी है, जो श्री. श्रीधर शास्त्रीजीके ध्यानमें नहीं आया!! शोक है कि शास्त्रीजी जैसे विद्वान्‌भी योग्य खोज करनेके पूर्वही मनमानी टीका और टिप्पणी लिखनेके लिये प्रवृत्त होते हैं!!!

(२१) पार्वती कौन है?

पुराणोंमें लिखी पार्वती कौन है? इसका अब यहां विचार करना चाहिये। हिमवान् पर्वतकी पुत्री हैमवती उमा पार्वती है। उमामहेश्वर, शंकर पार्वती आदि नाम सुप्रसिद्ध हैं। इनकी कथा निम्न प्रकार पुराणोंमें आगई है। अनेक पुराणोंमें है, परंतु यहां ब्रह्मपुराण (अ. ३४-३७)से उद्धृत की है। जो पाठक अन्यत्र देखना चाहें देख सकते हैं। इस कथाके मुख्य बातोंमें सर्वत्र समता है। देखिये उमामहेश्वरकी कथा—

"हिमवान् पर्वतको देवोंके वरसे मेना नामक स्त्रीके गर्भसे उमा नामक कन्या होगई। यह उमा अपने योग्य पति प्राप्त होनेके लिये तप करने लगी। इस तपसे त्रैलोक्य संतप्त होने लगा, तब ब्रह्मदेवने उस कुमारिकासे पूछा—

त्वया सृष्टमिदं सर्वं मा कृत्वा तद्विनाशय ॥ ९५ ॥
त्वं हि धारयसे लोकानिमान् सर्वान्स्वतेजसा ॥
ब्रूहि किं ते जगन्मातः प्रार्थितं संप्रतीह नः ॥ ९६ ॥

ब्रह्मपु. ३४

"जगन्माता देवी ! तूनेही यह जगत् उत्पन्न किया, अब इस तपसे इसका नाश न कर । तूं सब लोकोंको धारण करती है, इसलिये कह कि, अब तेरी क्या इच्छा है ?" देवीनें उत्तर दिया कि,—"तूं सब जानता है फिर पूछता क्यों है ? " तत्पश्चात् ब्रह्मदेवने कहा—

ततस्तामब्रवं चाहं यदर्थं तप्यसे शुभे ।
स त्वां स्वयमुपागम्य इहैव वरयिष्यति ॥ ९८ ॥

ब्रह्म. ३४

"जिसके लिये तेरा तप चल रहा है वह यहांही स्वयं आकर तेरा स्वीकार करेगा ।" तत्पश्चात् भयंकर रूप धारण करके रुद्र वहां आया और कहने लगा कि "मैं तुझे वरतां हूं ।" यह सुनकर देवीनें कहा कि, "मैं स्वतंत्र नहीं हूं, यदि तेरी इच्छा है तो मेरे पिता पर्वतराज हिमवान्के पास जाओ, और उससे पूछो ।" यह सुनकर रुद्र पर्वतराजके पास गया, और उससे वही अपनी इच्छा उसने कही । रुद्रका भयानक रूप देखकर पर्वत भयभीत होगया और बोलने लगा कि, "उस पुत्रीका स्वयंवर करना है, स्वयंवरमें जिसको चाहे वह मेरी पुत्री वर सकती है ।" पश्चात् उस उमानें स्वेच्छासे शिवजीका स्वीकार किया और दोनोंका विवाह हुआ । इस प्रकार स्वयंवरके पश्चात् शिव उमापति बन गया ।"

यह सारांशसे पर्वतराजपुत्री पार्वतीका वृत्तांत है । पाठक इस कथाको विस्तारपूर्वक ब्रह्मपुराणमें तथा अन्यत्र देखें और संपूर्ण कथाओंकी एकवाक्यता करके कथाका स्वारस्य जाननेका यत्न करें ।

(२२) क्या पर्वतको लडकी हो सकती है ?

हिमालय पर्वत को जो लडकी होगई उसीका नाम पार्वती है । क्या यह कथा सत्य है ? क्या पहाडकोभी लडकी हो सकती है ? पहाड की पुत्रीके

साथ रुद्रका विवाह हुआ ! क्या यह आश्चर्यकारक घटना नहीं है ? "पहाडने देवोंकी प्रार्थना की, देवोंने उसको वर दिया, उस वरसे पुत्री पैदा हुई, उस पर्वतपुत्रीनें पतिकी प्राप्तिके लिये भयंकर तपस्या की, ब्रह्म-देवने कहा कि यहां तेरे पास आकरही शिव तेरा स्वीकार करेंगे, अंतमें वैसा ही बना।" सबही आश्चर्य है !!! आज कल कोई भी नहीं मान सकता कि, पहाड भी पुत्री उत्पन्न कर सकता है ! !

उक्त आपत्ति दूर करनेके लिये कई विद्वान कहते हैं कि, उक्त कथामें जो "पर्वत" है, वह पहाड नहीं है; परंतु वह एक "पहाडी राजा" था; जिसकी उमानामक पुत्री के साथ शिवजीका विवाह हुआ; ऐसा माननेमें कई कठिनतायें हैं । पर्वतके जो नाम उक्त कथामें दिये हैं, वे निम्न हैं—"हिम-वान्, गिरिराज, पर्वतराज, नगोत्तम, पर्वत, शैलेंद्र, शैलराज, शैल," क्या ये नाम किसी एक राजाके माने जा सकते हैं ? केवल "पर्वत" नाम होता, तो उक्त "पहाडी राजा" की कल्पना मानी जा सकती थी; परंतु उक्त कथा पढनेके समय यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि, उमा पर्व-तराज हिमालय की ही पुत्री थी । उसी कथामें उमाके नाम—"हिमव-त्सुता, हिमवतो दुहिता, शैलसुता, पर्वतराजपुत्री" आदि आगये हैं । इन सबको देखने और शांतिसे विचार करनेसे कहना पडता है कि, जिन्होंनें पुराणोंकी रचना की उनके मनमें "पहाडी राजा" नहीं था, परंतु कोई विशिष्ट "पर्वत" ही था ।

जब उक्त बात कही जाती है, तब दूसरे विद्वान आगे होते हैं, और कहते हैं कि "येही पौराणिकों के गपोडे हैं ! इनका विचार भी क्या करना है ? इनको तो गप्पें मारनेका अभ्यास ही है ! !" बस, गपोडे कहने मात्रसे खंडन होगया ! क्या इतने अल्प प्रयत्नसे इन सब कथा-ओंका खंडन होसकता है ? यदि होता तो श्रीशंकराचार्य जैसे तत्वज्ञानी भी अपने अर्थमें "पर्वतकी दुहिता पार्वती" यह अर्थ क्यों स्वीकार करते ? "गपोडे" कहनेमात्रसे खंडन हो गया ऐसा जो मानते हैं, वे बडी ही भूलमें हैं । वास्तविक बात यह है कि उक्त कथाओंकी रचना करनेवाले यदि आजकलके विद्वानोंसे अधिक नहीं, तो उनके इतनी तो बुद्धि रखते

ही होंगे ! यह कहना व्यर्थ है कि वे पागल थे । केवल ऐसा कह देनेसे कुछ भी सिद्ध नहीं होता। कथा रचनेवालेने "पहाडी राजा" कहनेके स्थान-पर "पर्वत" ही क्यों कहा ? यह अद्भुतता केवल पार्वती की उत्पत्तिके विषयमें ही नहीं, प्रत्युत सीतादेवी की उत्पत्तिके विषयमें भी है । श्री-सती सीतादेवी हल चलाते समय जमीनमें प्राप्त हुई ! ! यदि ब्रह्मपुराणका लेखक पार्वती की कथा रचनेके समय पागल होगया, तो क्या वाल्मीकी मुनिभी सीतादेवीका जन्मवृत्तांत कथन करनेके समय वैसा ही हो गया था ? सब ग्रंथकारोंको "गप्पीदास" कहनेके पूर्व अपने ज्ञानकीही परीक्षा करना उचित है । यदि आजकलके विद्वान् दूसरोंकी परीक्षा करनेके पूर्व आत्मपरीक्षा करेंगे तो शीघ्र उन्नति होसकती है ।

(२३) पर्वत, पार्वती और रुद्र ।

पर्वत राज, गिरिराज, मेरु, मेरुपर्वत, सुमेरु आदि सब नाम मनुष्यके पृष्ठ वंशमें जो " मेरु दंड " है, उसके हैं । यह एक बात भूल जानेसे उक्त उमामहेश्वर की कथा समझनेमें कठिनता होगई है । जो 'पर्ववान्' अर्थात् पर्वोंसे युक्त होता है वह (पर्व-वत्) "पर्वत" कहलाता है । पृष्ठ वंशमें अनेक पर्व हैं इसलिये यह "पर्वत" कहा जाता है । पुराणोंमें जो 'सुमेरु' कहा है वह यही है । इस गिरिराजको 'हिम-वान्' इस-लिये कहते हैं कि, जैसा पहाडोंपर हिम किंवा बर्फ होता है, उसीप्रकार इस 'मेरु-शिखर' पर मज्जा (Brain matter) अथवा मस्तिष्कका भाग होता है । जो इस समानताको देखेंगे वे योगी जनोंके शारीर शास्त्र के विज्ञानसे निःसंदेह चकित हो जांयगे !

इस हिमवान् पर्वत अर्थात् मेरुदंड की पुत्री पार्वती है । इस पृष्ठ वंशमें जो "कुंडलिनी शक्ति" है, वही निःसंदेह "पार्वती" है, क्यों कि यह कुंडलिनी उसी मेरुमें रहती है । गुदाके पास पृष्ठवंश समाप्त होता है, वहां " मूलाधार चक्र" है, यहां यह कुंडलिनी रहती है । मानो इस समय यह शिवजीकी प्राप्तिकी तपस्या करती है । इस कुंडलिनीके नाम निम्न प्रकार हैं—

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ १०४ ॥

ह. यो. प्र. ३

"(१) कुटिलांगी, (२) कुंडलिनी, (३) भुजंगी, (४) शक्ति, (५) ईश्वरी (६) कुंडली, (७) अरुंधती ये सात शब्द पर्याय हैं, अर्थात् एकही आशय बतानेवाले हैं।" इन नामोंमें "भुजंगी" शब्द सर्पिणी (सांपिणी) का बोध कराता है। महादेवके पास सर्पोंका वास्तव्य पुराणोंमें सुप्रसिद्धही है। "शक्ति, ईश्वरी" ये शब्द पार्वतीके वाचक प्रसिद्धही हैं। "शक्ति" के उपासक शाक्त होते हैं। शाक्तोंकी जो उपास्य देवता है वह यही है; यही "आत्माकी शक्ति" है, इसलिये इसको 'ईश्वरी' कहा है। 'ईश्वर, ईश, शिव, आत्मा, आत्मेश्वर' ये शब्द एक आत्माकेही बोधक हैं। इसी आत्माकी शक्तिका नाम कुंडलिनी है। आत्माकी शक्तिकी उपासना करनेवाले शाक्त हैं। यह उनके धर्मका मूल है। यदि आगे जाकर उनके मतमें कोई दोष हुआ हो तो उसका विचार पृथक् किया जासकता है। मूलमें कोई बुराई नहीं थी।

सप्तऋषि और अरुंधती।

उक्त श्लोकसे सप्तऋषियोंके साथ सदा रहनेवाली भगवती अरुंधती देवीकाभी पता लग सकता है। सप्तज्ञानेंद्रियोंका नाम सप्तऋषि है—

सप्त ऋषयः प्रति हिताः शरीरे सप्त रक्षंति सद-
मप्रमादम् ॥ वा. यजु. ३४।५५

"सप्तऋषि प्रत्येक शरीरमें हैं" इन सप्तऋषियोंके साथ रहनेवाली अरुंधती यही कुंडलिनी शक्ति है। इस विषयमें अधिक लिखनेकी यहां हमें आवश्यकता नहीं है। पार्वतीका नाम "ईश्वरी और शक्ति" है, और इसीका नाम कुंडलिनी है, यह बात यहां सिद्ध होगई। यह पार्वती पर्वतके मूलमें अर्थात् मूलाधार चक्रके पास शिवजीके लिये तपस्या करती है। प्रत्येक मनुष्यके शरीरके पृष्ठवंशमें यह "मूलशक्ति" आदिमाया, शक्ति, शांभवी, दुर्गा, चंडिका, अंबिका" आदि विविध नामोंसे

प्रसिद्ध शक्ति है । यह रुद्रमहाराजकोही वरनेकी इच्छा करती है । यह रुद्र प्राणसहित आत्माही है । रुद्र ग्यारह हैं । दस प्राण और ग्यारवां आत्मा मिलकर एकादश रुद्र होते हैं देखिये—

> कतमे रुद्रा इति । दश इमे पुरुषे प्राणा
> आत्मा एकादश ॥ बृ. उ. ३।९।४; शत. ब्रा. १४।७।५

अर्थात् "प्राणोंके साथ आत्मा" मिलकर रुद्रका स्वरूप है। यही "शिव, शंभु, महादेव, रुद्र," आदि नामोंसे प्रसिद्ध है । "मृत्युंजय, वीरभद्र, पशुपति" आदि इसीके नाम हैं, । (देखिये "वैदिक प्राण-विद्या" पुस्तकमें 'पंचमुखी महादेव')

जिन्होंनें योगशास्त्रके ग्रंथ पढे होंगे, और थोडासा योगका अभ्यास किया होगा, उनको पता लगाही होगा कि, प्राणायामके अभ्याससे जो शरीरमें तेज बढता है, उसकी आंतरिक उष्णतासे यह कुंडलिनी जागृत होती है, और प्राणयुक्त आत्माके साथ साथ मेरुदंडके बीचके सुषुम्ना-मार्गसे ऊपरके एक एक उच्च स्थानका आक्रमण करती हुई ऊपर चढती है। इसी सुषुम्नाका नाम ब्रह्मरंध्र है, देखिये—

> सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥
> श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
> ह. यो. प्र. ३ ।

"(१) सुषुम्ना, (२) शून्यपदवी, (३) ब्रह्मरंध्र, (४) महापथ, (५) श्मशानं, (६) शांभवी, (७) मध्यमार्ग, ये सात शब्द एकही अर्थ बताते हैं ।" इसमें "श्मशान" शब्द है, महादेवका नाम "श्मशान–वासी" प्रसिद्धही है । यही ब्रह्मरंध्र है । जब प्राणके साथ आत्मा अर्थात् शिवजी महाराज कुंडलिनीके पास आते हैं, तब वह शक्ति जागृत होती है, अर्थात् तपस्याकी अवस्थासे उठती है, और शिवजी महाराजके साथ संलग्न होती है, क्यों कि शिवकीही यह मूलशक्ति है। इसप्रकार दोनोंका विवाह होता है । तत्पश्चात् ये उमामहेश्वर, शंकरपार्वती, ईश और शक्ति, शिव और भवानी, ईश्वर और ईश्वरी मिल जाती हैं और उक्त

हिमालयके कैलासशिखर पर आरूढ होतीं हैं । उसी सुपुम्नासे ऊपर चढते चढते, एकएक चक्रमेंसे गुजरकर मेरुपर्वतके शिखरपर जो देवसभा है, उसमें पहुंचते हैं । यही आत्माकी उन्नतिकी परम उच्च अवस्था है ।

जो केन उपनिषद् में "हैमवती उमा" कही है, वह यही है । जब इंद्र थका हुआ, घमंड छोडकर उमाके पास आता है, तब वह उसको सत्य ज्ञान बताती है । वास्तविक बात ही यह है । जब कुंडलिनीकी जागृति हो जाती है, और जब मन और प्राणसे युक्त होकर आत्मा वहां जाता है, तबही ब्रह्म शक्तिका उसको ज्ञान होता है । यह अनुभवजन्य ज्ञान है । यह शब्दोंका ज्ञान नहीं है । वास्तविक बात यह है, इसलिये यह उमा हिमवान्की ही दुहिता है और इसीलिये हैमवतीका अर्थ "सुवर्णके भूषण धारण करनेवाली" ऐसा यहां नहीं है ।

(२४) उमाका पुत्र गणेश ।

गणेशजीका स्थानभी गुदाकेपास मूलाधार चक्रही है । यह गणेश उमामहेश्वरके पुत्र हैं । पार्वतीके शरीरके मलसे इनकी उत्पत्ति पुराणोंमें कही है । गणपति अथर्वशीर्षमें कहा है कि—

त्वं मूलाधारस्थितोऽसि नित्यम् ।

ग. अ. शीर्ष.

" हे गणपति ! तूं मूलाधार चक्रमेंही सदा रहता है । " पूर्व स्थानमें बतायाही है कि, मूलाधार चक्र पृष्ठवंशके अंतमें गुदाके पास है, और वहां मध्यरंध्रके मुखमें कुंडलिनी रहती है, वहांही गणेशजी रहते हैं । यह सब गणोंके अधिपति हैं, इनके कारणही सब शरीरका मूल-आधार होता है । इसका सब रूपक यहां खोलनेकी आवश्यकता नहीं है । यहां गणेशजीका उल्लेख इसलिये किया है कि, पार्वतीका रूपक पाठकोंके मनमें आजाय, और पुराण लेखकोंके मनमें हैमवती उमा अर्थात् पार्वतीके रूपकमें जो बात थी, वह स्पष्ट हो जाय ।

यदि पाठक इन सब बातोंका विचार करेंगे, तो उनके मनमें स्पष्टता-पूर्वक यह बात आजायगी कि "हैमवती उमा" का वास्तविक मूल

स्वरूप क्या है । इसको न समझनेके कारण बडे बडे विद्वान् भी कैसे भ्रांत होगये और मनमानी बातें लिखनेमें कैसे प्रवृत्त होगये हैं ! ! वास्तविक रीतिसे यह बात अत्यंत स्पष्ट थी और जो विचार करेंगे, तथा अनुभव लेंगे उनको इस समय भी स्पष्ट ही होसकती है ।

(२५) सनातन कथन ।

जो हमेशा होता है उसको सनातन कहते हैं । जो एक समय हुआ करता है, वह सनातन नहीं हो सकता । उपनिषदोंका कथन यदि त्रिकालाबाधित है, तो (१) देवोंके सामने ब्रह्मका यक्षरूपसे प्रकट होना, (२) देवोंका ब्रह्मके सामने लज्जित होना, (३) इंद्रको उमाका दर्शन होना, और (४) उससे इंद्रको सत्य ज्ञान प्राप्त होना, इत्यादि बातें आजभी होनी चाहिये । तथा उमामहेश्वरका विवाह आजभी दिखाई देना चाहिये । यदि पाठक पूर्वोक्त रीतिसे अपने शरीरमें ही देखेंगे और प्राणायाम करते हुए कुंडलिनीकी जागृति करनेमें तत्पर होंगे, तो मुझे निश्चय है कि, उक्त उपनिषद् की कथा, तथा पुराणोंकी शंकरपार्वतीकी कथा वे अपने शरीरमें ही देख सकते हैं । इसलिये उक्त कथायें सनातन हैं और सत्य भी हैं । यद्यपि देखनेमें विलक्षणसी प्रतीत होती हैं, तथापि उनका अलंकार दूर करनेसे उनका मूलरूप शुद्ध और निष्कलंक ही प्रतीत होगा । आशा है कि पाठक इस दृष्टिसे अधिक विचार करेंगे ।

(२६) इंद्र कौन है ?

केन उपनिषद्में जो 'इंद्र' शब्द है, वह किसका नाम है ? देवोंका राजा इंद्र है और देव शब्द इंद्रियवाचक शरीरमें और अग्नि आदि देवतावाचक जगत्में है । केन उपनिषद्मेंही इंद्रका विद्युत् तत्वके साथ संबंध जोडा है और विद्युत् तत्वही शरीरमें मन है, ऐसा वहांही कहा है । जो अधिदैवतमें विद्युत् है वही अध्यात्ममें मन है । जो बाह्य जगत्में विद्युत्तत्व है वही शरीरमें मन है । यदि बाह्य जगत्में अग्नि आदि देवोंका राजा विद्युत् (इंद्र) है। तो वाग् आदि संपूर्ण इंद्रियों (देवों) का राजा शरीरमें मनही है, क्यों कि मनकेही आधीन सब इंद्रिय गण (देव गण) हैं इसलिये मनही उनका राजा है ।

अधिदैवत (जगत्में)	इंद्र	अध्यात्म (शरीरमें)
विद्युत्	देवराजा	मन
सूर्य	देवगण	नेत्र
वायु		प्राण
अग्नि		वाक्

यद्यपि इंद्र शब्दके आत्मा, परमात्मा, राजा आदि अनेक अर्थ वेदमें हैं, तथापि इस केन उपनिषद्में यह "इंद्र" शब्द उक्त कोष्टकमें कहे अर्थोंमेंही प्रयुक्त है, यह बात भूलना नहीं चाहिये। अस्तु आशा है कि पाठक इसका अधिक विचार करेंगे।

यहां शंका उत्पन्न हो सकती है कि, यदि इंद्र मन है, तो मनकी पहुंच आत्माके पास नहीं है, परंतु उपनिषद् में कहा है कि इंद्रको ब्रह्मका ज्ञान हो गया यह कैसे? इस विषयमें विचार यह है कि 'अग्नि, वायु, इंद्र' ये तीन देव जगत्में हैं, और उनके अंश शरीरमें 'वाणी, प्राण, मन' ही हैं। वास्तविक रीतिसे इनमेंसे कोई देव, वह शरीरमें रहनेवाला हो वा जगत् में रहनेवाला हो, ब्रह्मको मूल रूपमें देखही नहीं सकता। परंतु जब ब्रह्म यक्षरूपमें प्रकट होता है तब उसका थोडासा आकलन उक्त देवोंको होता है। यक्षके पास अग्नि जाता है इसलिये वाणीसे उसका थोडासा वर्णन हो सकता है, इस समय भी देखिये कि वेद और उपनिषद् उसका कुछ न कुछ वर्णन करही रहे हैं, यद्यपि यथार्थ गुणवर्णन अशक्य है तथापि शब्दोंद्वाराही अतर्क्य वस्तुका वर्णन किया जाता है। इसीप्रकार वायु अथवा प्राणभी, यद्यपि वहां नहीं पहुंच सकता, तथापि उपासकोंको बहुत समीप पहुंचाताही है।

पहिले जिसका ज्ञान शब्दोंद्वारा विदित होता है, उसके पास प्राणोपासनाद्वारा पहुंचना है। परंतु एक स्थान ऐसा आता है कि उसके आगे प्राण नहीं सहायता देते। इसलिये इसके पश्चात् मनकी योजना होती है। प्राणके साथ ही मन रहता है। प्राण चंचल होनेपर मन चंचल होता है

और स्थिर होनेसे स्थिर होता है, इतना प्राणके साथ मनका दृढ संबंध है। प्राणकी गति कुंठित होनेपर मन आगे बढनेका यत्न करता है। जब मन अपनी घमंडकी वृत्तिके साथ उस ब्रह्मको देखनेका यत्न करता है, तब उसको अनुभव होता है कि, जहां तक वह पहुंचता है वहांतक कोई ब्रह्म नहीं है; यही कारण है कि इंद्रके सामनेसे यक्ष गुप्त हुआ। मन जितना जितना विचार करता है उतना उतना उसको अनुभव आता है, कि 'यह ब्रह्म नहीं, वह ब्रह्म नहीं'। इस प्रकार ब्रह्म 'अतर्क्य, अज्ञेय, अगोचर' है, ऐसा जब मनको पूरा पूरा अनुभव आता है, तब उसकी 'पहिली घमंडकी वृत्ति' दूर होती है, मानो कि पहिली वृत्ति मरगई और वहां दूसरी घमंडहीन गुणरहित वृत्ति उत्पन्न होगई। तबही उसको उमादेवी उपदेश करने योग्य समझती है। उमादेवीका उपदेश होनेके पश्चात् इंद्रनें केवल कल्पनासेही जान लिया है कि "वह ब्रह्म है," पश्चात् उसनें देखा नहीं है क्यों कि वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। मनकी उच्छृंखल वृत्ति नष्ट होनेके पश्चात् जब मन शांत हो जाता है, तब ब्रह्मकी कुछ कल्पना होती है।

इस कल्पनातीत वस्तुकी कल्पना कैसी होती है? यहां इतनाही मनसे निश्चय होता है कि 'वह ब्रह्म निश्चयसे कल्पनातीतही है।' जो नहीं जानता वही जानता है, और जिसको जाननेकी घमंड है वह अज्ञानी है। मूक रहनेसे उसका व्याख्यान होता है और वक्ता उसका वर्णन नहीं कर सकता। यह मनकी अवस्था इस समय होकर मनके व्यापार बंद हो जाते हैं। देवी भागवतकी कथामें जो इंद्रकी अवस्था लिखी है वह इस अवस्थाके अनुकूलही है।

यहां पाठक देखेंगे कि (१) एक 'प्रथम अवस्थाका मन' है जो समझता है कि मेरे सामने यक्ष क्या चीज है, परंतु थोडी खोजके पश्चात् यह मनकी घमंडकी वृत्ति हट जाती है, (२) यह 'द्वितीय अवस्थाका मन' है कि जो समझता है कि ब्रह्मका ज्ञान नहीं हो सकता, उसके सन्मुख हम सब देव कुंठित होते हैं। पहिले अवस्थाका मन संकुचित वृत्तिवाला है और दूसरी अवस्थाका मन व्यापक वृत्तिसे युक्त होता है। पहिली अवस्थामें जो 'बिंदुमात्र शक्ति' के कारण घमंड कर रहाथा, वही दूसरी अवस्थामें महान विस्तृत शक्ति प्राप्त होनेपरभी अपने आपको कुंठित समझता है!!!

पहिला मन जागृति और स्वप्नमें जागृत रहता है, और दूसरा सुषुप्ति और तुर्यामें जागृत रहता है। पहिलेकी जो जागृति वही दूसरेकी सुषुप्ति, और दूसरेकी जो जागृति है वह पहिलेकी सुषुप्ति है। इसी हेतुसे भगवान् श्रीकृष्णचंद्रजीनें भगवद्गीतामें कहा है कि—"सब लोगोंकी जो रात है, उसमें स्थितप्रज्ञ जागता है, और जब समस्त प्राणिमात्र जागते हैं वह ज्ञानी मुनिकी रात्री है।" (भ. गी. अ. २।६९)

पाठक पूछेंगे कि क्या मनुष्यको दो मन हैं? उत्तरमें निवेदन है वैदिक वाङ्मयमें दो तत्वोंका मनके साथ संबंध वर्णन किया है, देखिये—

चंद्रमा मनसो जातः। ऋ. १०।९०।१३
चंद्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। ऐत. उ. २।४

चंद्रमा मनका रूप धारण करके हृदयमें प्रविष्ट हुआ है।" यह चंद्र कौन है इसका यहां विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। परंतु यह कहना आवश्यक है कि यह मन जो हृदयमें है वह 'चंद्रतत्व' का बना है। हमारे शरीरमें सूर्यतत्व और चंद्रतत्व सर्वत्र हैं। यहांतक इसकी व्याप्ति है कि सीधे नाकसे चलनेवाला श्वास 'सूर्यस्वर' कहलाता है और दूसरे नाकसे चलनेवाला श्वास 'चंद्रस्वर' कहलाता है। तात्पर्य हृदयस्थानीय एक मन चंद्रतत्वका बना है। यह मन जागृति और सुषुप्तिमें कार्य करता है। जब यह मन लीन हो जाता है तब दूसरा व्यापक मन जागने लगता है, वही व्यापक विद्युत् तत्वका बना है। इसलिये कहा है कि "जो अधिदैवतमें विद्युत् है वह अध्यात्ममें मन है।" (केन. उ.)

'चंद्र और विद्युत्' ये दोनों मध्यस्थानमें ही हैं। मध्यस्थान अंतरिक्षही है, और जो बाह्य जगत्में अंतरिक्ष है वही शरीरमें हृदय अथवा अंतःकरण है। अब विचार करना है कि, क्या चंद्र और विद्युत् ये एकही तत्व हैं या भिन्न? अथवा एकही तत्वके अंदर ये दो विभाग हैं? यदि ऐसा माना जासकेगा, तोही वेद और उपनिषदोंकी उत्तम संगति लग सकती है। एकही मनके दो विभाग मानकर एक जागृत्स्वप्नमें और दूसरा सुषुप्ति तुर्यामें कार्य करता है, ऐसा माननेसे संगति लगानेकी सुगमता हो सकती है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

(२७) अंतिम निवेदन ।

इस पुस्तकमें केन उपनिषद्, अथर्ववेदीय केन सूक्त, देवीभागवतकी कथा इनका परस्पर संबंध बताया है। यदि पाठक इसका विचार करेंगे तो वैदिक सूक्त, ब्राह्मण और उपनिषद्की गाथायें, और पुराणोंकी कथायें इनका परस्पर संबंध उनके मनमें आसकता है। यदि इस प्रकारकी विचारसरणी जागृत होगी, तो विरोधके स्थानमें एकताका अनुभव आसकता है। मेरा यह विचार कदापि नहीं है कि जहां संगति नहीं है वहां भी लगाई जावे; परंतु जहां निश्चयसे है वहां न लगानी और यौंही विरोध खडा करना भी योग्य नहीं है।

इस पुस्तकमें कई बातोंकी विशेष रीतिसे और विशेष पद्धतिसे खोज करनेका यत्न किया है। ऐसा करनेमें किसीका विरोध करनेका मेरा बिलकुल हेतु नहीं है। परंतु यही हेतु है कि सत्यासत्यका निर्णय लगनेमें सुविधा हो। यदि इस प्रयत्नमें कोई अशुद्धियां किसी विद्वानको प्रतीत होगई, तो उनको उचित है कि, मेरे पास लिख भेजें। मैं उनका योग्य विचार द्वितीय वारके मुद्रणके समय अवश्य करूंगा और किसी प्रकारका हठ नहीं किया जायगा।

तथा किसी विद्वानको यदि कोई संगतिके अधिक विषय ज्ञात हैं तो वह भी कृपा करके मुझे लिख भेजे, मैं उनका हार्दिक स्वागत करूंगा। यह कार्य एक व्यक्तिका नहीं है। सबका मिलकर जो कार्य होगा, वही हमको उस स्थानपर शीघ्र पहुंचा सकता है, कि जहां पहुंचना है। आशा है कि सब विद्वान इस दृष्टिसे साहाय्यता करेंगे।

औंध (जि० सातारा). } श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
१ चैत्र सं. १९७८. } स्वाध्याय-मंडल,

ॐ

सामवेदीय

तलवकर उपनिषद्

अथवा

केन उपनिषद् ।
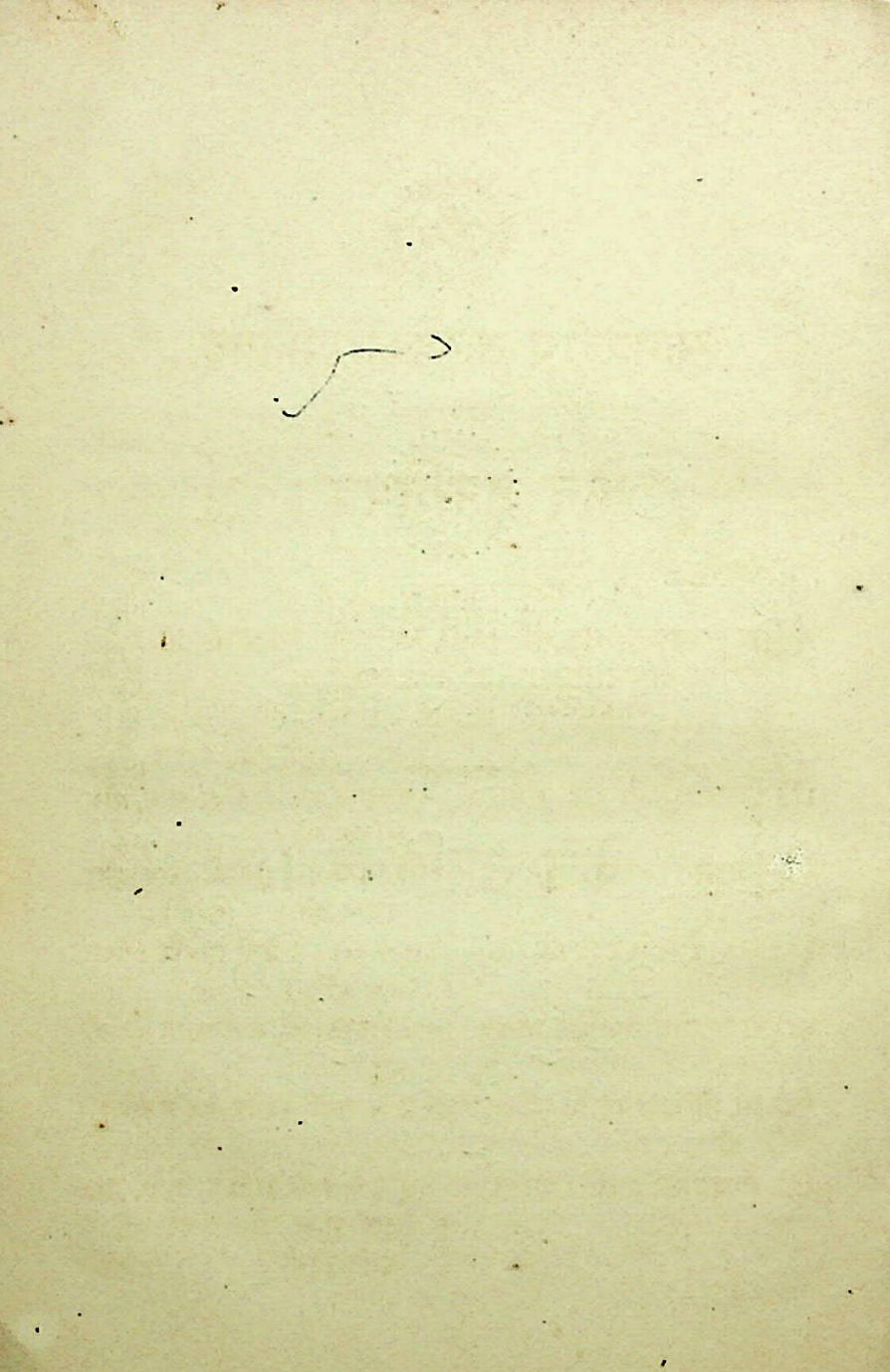
सामवेदीय तलवकारोपनिषद्

अथवा

केन उपनिषद् ।

प्रथमः शांतिमंत्रः ॥ १ ॥

ॐ सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै ॥
तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै ॥
ॐ शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः ॥

तै. आ. ८।१।१

(१) [अधीतं] नौ सह अवतु ।	अधीतज्ञान हम दोनोंका साथ साथ संरक्षण करे ।
(२) [अधीतं] नौ सह भुनक्तु ।	अधीतज्ञान हम दोनोंको साथ साथ भोजन देवे ।
(३) सह वीर्यं करवावहै ।...	इस ज्ञानसे हम दोनों साथसाथ पराक्रम करें ।
(४) नौ अधीतं तेजस्वि अस्तु ।	हम दोनोंका यह अधीतज्ञान तेजस्वी रहे ।
(५) मा विद्विषावहै ।......	हम आपसमें कदापि द्वेष न करें ।
(६) ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।	इसीसे निश्चयसे व्यक्तिमें शांति, जनतामें शांति और संपूर्ण जगत्में शांति रहेगी ।

थोडासा विचार—"अधीतं" शब्दका अर्थ "विद्याका अध्ययन, पठनपाठन, ज्ञान" है । विद्याका अध्ययन कैसा होना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर इस मंत्रने दिया है । विद्याध्ययनसे निम्न वातें सिद्ध होनी चाहिये— (१) उच्चनीच आदि दोनों प्रकारके जनोंका उक्त ज्ञानसे संरक्षण हो, (२) उक्त विद्याध्ययनसे योग्य भोग और भोजनका ठीक प्रवंध हो, (३) पराक्रम करनेकी शक्ति वढे, (४) तेजस्विताकी वृद्धि हो, (५) आपसके झगडे वंद हों और (६) व्यक्ति, समाज और जगत्में शांति वढे । ये छः उद्देश जिस अध्ययनसे परिपूर्ण हो सकते हैं, वही अध्ययन करना चाहिये, अन्य नहीं । जिस अध्ययनसे (१) उच्चनीच आदि दोनों प्रकारके लोकोंका रक्षण नहीं होता, (२) अध्ययन होनेके पश्चात् भी पेटकी चिंता ही सताती है, (३) पराक्रम करनेकी शक्ति समूल नष्ट होती है, (४) निस्तेजता और निरुत्साह वढता है, (५) आपसके झगडे वढते हैं, और (६) व्यक्ति, समाज और जगत्में अशांति वढती है, वह अध्ययन वहुतही बुरा है, इसलिये उस से दूर होना चाहिये ।

कौनसी विद्या अच्छी है और कौनसी बुरी है, इसकी कसौटी उक्त प्रकार इस मंत्रमें कही है । पाठक इसका उत्तम विचार करें, और अपने तथा अपने वालबच्चोंके अध्ययन की परीक्षा करके, अयोग्य अध्ययनसे विमुख होकर, योग्य अध्ययनमें ही निरंतर दत्तचित्त हों ।

मंत्रमें "नौ" पद है । दो वर्गोंका वोध इससे होता है । गुरु शिष्य, ज्ञानी अज्ञानी, शिक्षित अशिक्षित, आगे वढे हुए पीछे रहे हुए, अधिकारी अनधिकारी आदि दो वर्ग सब जनतामें हैं । हमेशा एकका कल्याण और दूसरेका अकल्याण होता है, एक दवाता है और दूसरेको दवना पडता है; इसलिये समाजमें विषमता रहती है । इसको दूर करनेके लिये जनतामें ज्ञानका प्रचार ऐसा होना चाहिये कि, जिससे दोनोंका ठीक ठीक संरक्षण हो जाय । ज्ञानीमें अज्ञानियोंकी सहायता करनेकी सुवुद्धि उत्पन्न होनी चाहिये, और अज्ञानियोंमें ज्ञानीके पास जाकर उसके गुरुत्वका संमान करके उससे ज्ञान लेनेकी प्रवृत्ति चाहिये । इस प्रकार ज्ञानसे प्राणिमात्रका संरक्षण होना चाहिये । उत्तम ज्ञानकी यह पहिली कसौटी है ।

ज्ञानसे योग्य भोग और भोजनकी चिंता कम होनी चाहिये। अर्थात् ज्ञान ऐसा होना चाहिये कि, जो प्राप्त होनेसे मनुष्य स्वावलंबनशील बने और परावलंबी न हो। यह उत्तम ज्ञानकी दूसरी परीक्षा है।

तीसरा लक्षण यह है कि, ज्ञान प्राप्त होनेपर पराक्रम करनेकी शक्ति बढे। वीर्य, पराक्रम, पुरुषार्थ करनेका उत्साह बढना चाहिये। जो ज्ञानी होगा वह सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ करनेवाला होना चाहिये।

ज्ञानकी श्रेष्ठता का चतुर्थ लक्षण तेजस्विता है। ज्ञानसे तेजस्विता, आत्मसंमानका भाव, तथा आत्मगौरवका विश्वास बढना चाहिये। जिससे आत्मशक्तिके विषयमें शंका उत्पन्न होती है वह ज्ञानही नहीं है।

आपसके तथा संसारके कुल झगडे न्यून होने चाहिये, यह ज्ञान का पंचम फल है। ज्ञान बढनेसे परस्पर विद्वेष कम होने चाहिये। जिससे परस्पर ईर्ष्याद्वेष बढते हैं, वह ज्ञान नहीं परंतु अज्ञान है।

ज्ञानका छठां लक्षण शांति है। वैयक्तिक, सामाजिक, राजकीय और सांसारिक शांति बढनी चाहिये। जिससे उक्त स्थानोंमें शांति नहीं रहती, परंतु अशांति बढती है; वह ज्ञान नहीं होता, परंतु अज्ञानही उसको समझ कर, उसको दूर करना चाहिये।

सारांशसे कहना हो तो उत्तम ज्ञानसे निम्न बातें सिद्ध होतीं हैं,— (१) स्वसंरक्षण, (२) भोजनाच्छादन, (३) पराक्रम करनेका उत्साह, (४) तेजस्विता, (५) परस्पर मित्रता और (६) सार्वत्रिक शांति। तथा अज्ञान बढनेसे निम्न दोष बढते हैं,— (१) स्वसंरक्षण करनेकी असमर्थता, (२) भोजनाच्छादनकी चिंता (३) निरुत्साह, (४) तेजोहीन अवस्था, (५) परस्पर द्वेष, (६) अशांति। इससे पाठक देख सकते हैं कि ज्ञान कौनसा है और अज्ञान कौनसा है।

उपनिषदोंमें जो ज्ञान है, वह उक्त प्रकारके सद्भाव बढानेवाला है। इसलिये उपनिषद् पढनेके पूर्व और पश्चात् इस प्रकारके शांतिमंत्र पढे जाते हैं। जो आदि और अंतमें होता है, वही मध्यमें होता है। अस्तु। अब इसी उपनिषद्का दूसरा शांतिमंत्र देखिये—

द्वितीयः शांतिमंत्रः ॥ २ ॥

ॐ आप्यायंतु ममांगानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो वलमिंद्रियाणि च सर्वाणि, सर्वं ब्रह्मौपनिषदं, माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोद्-निराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु, तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि संतु, ते मयि सन्तु ॥

ॐ शांतिः । शांतिः । शांतिः ॥

(७) मम वाक्, प्राणः, चक्षुः, श्रोत्रं, अथो वलं, इन्द्रियाणि अंगानि च सर्वाणि, आप्यायंतु ।	मेरी वाणी, प्राण, नेत्र, कर्ण और बल, इंद्रिय और सब अंग हृष्ट पुष्ट और बलवान हों ।
(८) औपनिषदं सर्वं ब्रह्म । ...	उपनिषद्‌में जो कहा है वह सब ज्ञा-नही है ।
(९) अहं ब्रह्म मा निराकुर्याम् ।	मेरेसे ज्ञानका विरोध न हो ।
(१०) ब्रह्म मां मा निराकरोत् ।	ज्ञान मेरा विरोध न करे ।
(११) अनिराकरणं अस्तु । ...	परस्पर अविरोध हो ।
(१२) मे अनिराकरणं अस्तु ।...	मेरा अविरोध हो ।
(१३) तत् ये उपनिषत्सु धर्माः, ते आत्मनि निरते मयि सन्तु ।	इसलिये जो उपनिपदोंमें धर्म कहे हैं, वे आत्मरत होनेपर मुझमें रहैं ।

थोडासा विचार—वैयक्तिक शांतिके तत्व इस मंत्रमें कहे हैं। व्यक्तिमें शांति किस रीतिसे स्थिर रह सकती है इस प्रश्नका उत्तर इस मंत्रमें है । व्यक्तिमें शांति रहनेके लिये व्यक्तिकी शारीरिक स्वस्थता रहनेकी आवश्य-कता है । वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नासिका, मुख, हाथ, पांव, पेट आदि सब अंग और अवयव हृष्ट, पुष्ट, बलवान, कार्यक्षम और नीरोग रहने चाहिये । व्यक्तिमें शांति रहनेके लिये शारीरिक स्वास्थ्यकी अत्यंत आवश्य कता है । शारीरिक अस्वस्थता होनेपर व्यक्तिमें शांति नहीं रह सकती यह बात अत्यंत ही स्पष्ट है ।

शांति रहनेके लिये दूसरी बात यह है कि, कोई ज्ञानका विरोध न करे, ज्ञानसे दूर न भागे; सत्य ज्ञानका कोई खंडन न करे, स्वार्थके कारण सत्य ज्ञानका कोई विरोध न करे। हरएक मनुष्य ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सदा तत्पर रहे, जहांसे ज्ञान मिलता है वहांसे आतुरताके साथ ज्ञान ग्रहण करनेकी तत्परता रखे। तथा हरएक मनुष्य ज्ञान प्राप्त होनेकी सुविधा करनेमें अपने प्रयत्नकी पराकाष्ठा करे। इस रीतिसे सबको ज्ञान प्राप्त होनेसे सर्वत्र शांति रह सकती है।

ज्ञानसे किसीकी हानी न हो। अर्थात् ज्ञान समझकर कोईभी अज्ञानका प्रचार न करे। हठ, दंभ, धूर्तता आदिके कारण कोईभी इस प्रकार अज्ञानके जालमें लोकोंको न फसादे। क्योंकि एक समय फैलाहुआ अज्ञान सबका नाश कर सकता है।

कोई किसीको प्रतिबंध न करे, एक दूसरेको रोकनेवाला न बने, इतनाही नहीं, परंतु जो आगे बढाहुआ है वह पीछेसे आनेवालोंका मार्गदर्शक बने। सब अपनी शक्तिका उपयोग करके दूसरोंके प्रतिबंध कम करनेका कार्य करें।

तथा हरएक ऐसी इच्छा मनमें धारण करे कि अपनेमें ज्ञानका आदर स्थिर रहे और कोईभी ज्ञानके विरोधी कार्य अपने द्वारा न हों। इसप्रकार होनेसे व्यक्तिमें, राष्ट्रमें और संसारमें शांति रह सकती है। अस्तु।

ये दोनों शांतिमंत्र अत्यंत विचार करने योग्य हैं। इस द्वितीय मंत्रमें व्यक्तिके शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नतिके तत्व कहे हैं और पहिले मंत्रमें शुद्ध ज्ञानका महत्व वर्णन किया है। जो लोग समझते हैं कि, उपनिपदोंका वेदांत व्यवहारके लिये निकम्मा है, वे यदि इन दोनों मंत्रोंका विचार करेंगे, तो उनको अपने विचारोंकी अशुद्धताका पता लग जायगा। और यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि, वेदांतके ज्ञानसे मनुष्य ऐसा योग्य बन सकता है, कि वह संपूर्ण व्यवहार करता हुआभी निर्दोष रह सकता है। निर्दोष कर्म करनेकी विद्या इसप्रकार वेदांत ज्ञानके अंदर विद्यमान है। अस्तु। अब केन उपनिषद्का विचार करते हैं।—

यहां ही यदि ज्ञान प्राप्त किया,

तो ठीक है;

नहीं तो बडी हानि है ॥

केन उ. २।५

केन उपनिषद् ।

प्रथमः खंडः ।

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः । केन प्राणः
प्रथमः प्रैति युक्तः ॥ केनेषितां वाचमिमां
वदन्ति । चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

(१) केन इषितं प्रेषितं मनः पतति ?	किसकी इच्छासे प्रेरित हुआ मन दौडता है ?
(२) केन युक्तः प्रथमः प्राणः प्रैति ?	किससे नियुक्त हुआ पहिला प्राण चलता है ?
(३) केन इषितां इमां वाचं वदन्ति ?	किससे प्रेरित हुई यह वाणी बोलते हैं ?
(४) कः उ देवः चक्षुः श्रोत्रं युनक्ति ?	कौनसा भला देव आखों और कानों को चलाता है ?

थोडासा विचार—शरीरमें मन, प्राण, वाणी, आंख, कान, हाथ, पांव आदि इंद्रिय तथा अन्य अंग और अवयव बहुतसे हैं। वे अपने अपने व्यापार व्यवहार कर रहे हैं । उनके विषयमें इस मंत्रमें प्रश्न पूछा है कि, क्या अपने कार्य व्यवहारमें ये इंद्रिय, अंग और अवयव स्वतंत्र हैं, वा किसीकी प्रेरणासे प्रेरित होकर कार्य करते हैं? यद्यपि मंत्रमें दोचार इंद्रियोंके ही नाम हैं, तथापि यही प्रश्न अन्य अवयवोंके विषयमें भी पूछा जा सकता है। जैसा कि अथर्व वेदीय केन सूक्तमें कई अन्य अवयवोंके विषयमें प्रश्न पूछा गया है । अपने शरीरमें जो हलचल हो रही है, इसका कोई एक प्रेरक है वा अनेक हैं, अथवा कोई भी प्रेरक नहीं है, यह जाननेकी इच्छासे यह प्रश्न है । अब इसका उत्तर देखिये—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनो, यद्वाचो ह वाचं,
स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः ॥ अतिमुच्य
धीराः, प्रेत्याऽस्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसः मनः ।... यत् ह वाचः वाचं, स उ प्राणस्य प्राणः, चक्षुषः चक्षुः ।	वह कानका कान और मनका मन है। जो निश्चयसे वाणीकी वाणी है, वही प्राणका प्राण है, और आंखका आंख है ।
अतिमुच्य, अस्मात् लोकात् प्रेत्य, धीराः अमृताः भवन्ति ।	अत्यंत स्वतंत्र होते हुए, इस लोकसे पृथक् होकर, बुद्धिमान लोक अमर होते हैं ।

थोडासा विचार—जो प्रेरक देव शरीरमें है, उसका स्वरूप इस मंत्रमें वर्णन किया है। वह कानका कान, मनका मन, प्राणका प्राण, वाणीकी वाणी और आंखका आंख है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि, यह हमारा कान जो बाहिर दीख रहा है, वह वास्तवमें सच्चा कर्णेंद्रिय नहीं है, न यह आंख सच्चा नेत्रेंद्रिय है; परंतु सच्चा कर्णेंद्रिय और नेत्रेंद्रिय आत्माकी शक्तिमें विद्यमान है। आत्माका असली कर्णेंद्रिय जिस समय बंद रहता है, उस समय यह बाहिरका कान सुन नहीं सकता, और आत्माका असली नेत्र जिस समय बंद रहता है उस समय यह बाहिरका नेत्र देख नहीं सकता। इसीप्रकार अन्य इंद्रियोंके विषयमें समझना चाहिये। इंद्रियोंकी सब शक्तियां इस आत्मामें विद्यमान हैं, और उनसे ही वह आत्मा इस शरीरके सब व्यापार चला रहा है। हरएक इंद्रिय, अंग और अवयवमें जो शक्ति, जो क्रिया, और जो विशेषता दिखाई दे रही है, वह सब आत्माकी शक्तिके कारण ही है। आत्माकी प्रेरणाके विना और आत्मशक्तिके प्रभावके विना कोई इंद्रिय और अवयव कोई कार्य नहीं कर सकता। इतना इस आत्माका प्रभाव है।

इसप्रकार शक्ति शाली और अद्भुत प्रभाव वाला आत्मा है, इसी लिये वह इस शरीरमें कार्य करनेको समर्थ हुआ है। यदि हमको इस शरी-

रका विचार करना है, इसका ज्ञान प्राप्त करना है, इसमें जो चमत्कार हो रहे हैं उनका कारण देखना है, तो हमको आवश्यक है कि शरीरके प्रेरक आत्माका ज्ञान हम प्राप्त करें। क्यों कि यह आत्मा स्वतंत्र है और शरीर उस आत्मापर अवलंबित है। परतंत्रोंके पीछे लगनेकी अपेक्षा स्वतंत्रका आश्रय करना हमेशा लाभदायक है। प्रभु और नौकर इनका जो संबंध है वही आत्मा और इंद्रियोंका है। प्रभुके पास सब शक्तियां होतीं हैं, इस लिये प्रभुकी मित्रता संपादन करनेसे जो लाभ होते हैं, वे उसके नौकरोंके साथ रहनेसे नहीं हो सकते। यही आत्मा प्रभु, इंद्र आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। इस इंद्रके ही ये सब इंद्रिय हैं अर्थात् इंद्रकी ये सब शक्तियां हैं। इसलिये सब शक्तियोंके मूल केंद्रमें पंहुचनेसे सबही शक्तियां प्राप्त हो सकतीं हैं।

आत्माको जानना चाहिये, यह बात ठीक है, परंतु उसको कैसे जाना जा सकता है? इसका उत्तर "अति-मुच्य" शब्द दे रहा है। बंधनोंको छोडना ही (मुच्य) मुक्त होना है। बंधनोंकी अत्यंत निवृत्ति करनेका नाम (अति-मुक्ति) अत्यंत मोचन है। जितने बंधन, प्रतिबंध और रुकावटें हैं उनको दूर करनेसे, आत्माकी पूर्ण स्वतंत्रता होती है। इस प्रकार उसको स्वतंत्र रूपमें देखना आवश्यक है। यहां कोई पूछेंगे कि इतना प्रभाव शाली आत्मा बंधनमें कैसे फंस गया? और जो बंधनमें फंस गया उसमें शक्ति कैसी मानी जा सकती है? इसके उत्तरमें निवेदन है कि, इस आत्मामें ऐसी विलक्षण शक्ति है कि, जब यह शत्रुओंका मुकाबला करनेको सिद्ध होता है, और निश्चयसे आगे बढता है, तब कोई शत्रु इसके सन्मुख ठहर नहीं सकते, कोई आपत्ति इसके सन्मुख नहीं रहती, कोई प्रतिबंध उस समय इसके लिये रुकावट नहीं कर सकते। परंतु जब यह स्वयंही संशयमें रहता है अथवा पूर्ण निश्चय नहीं करता, तब इसके संदेहके भावही इसको प्रतिबंधक और कष्टदायक हो जाते हैं। इस बातका अनुभव पाठक स्वयं कर सकते हैं। हरएक को अपने मनके भावही गिराते हैं और उठातेभी हैं।

इसलिये जो इस अपने आत्माको "अति-मुक्त" करते हैं, अर्थात् अपने प्रभावसे सब प्रतिबंधोंको दूर करते हैं, तब आत्मा स्वयं अपनी श-

क्किसेही विराजने लग जाता है। इस प्रकारके धीर अर्थात् बुद्धिमान, चतुर तथा प्रलोभनमें न फंसने वाले कर्तव्य तत्पर पुरुपार्थी सज्जन इस लोकसे पृथक् होनेके पश्चात् अमृत रूप होते हैं । आत्मा स्वयं अमृत अर्थात् मरण रहित ही है । वह कभी मरता नहीं । जब वह पूर्ण मुक्त हो जाते हैं, तब वे अपने मूल रूपमें रहते हैं, इसलिये यहां कहा है कि वे "अमृत" होते हैं । वास्तवमें आत्मा सदाही अमर है । परंतु शरीरके धर्मोंका उसपर आरोप करके उसमें जन्म मरण आदिकी कल्पना साधारण लोक करते हैं । परंतु जब विचारसे कोई ज्ञानी अपने आपको शरीरसे पृथक् अजन्मा, अजर, अमर और शरीरका प्रभु समझने लगता है, और अनुष्ठानसे वैसा अनुभव करने लगता है, तब कहा जाता है कि वह "अमृत" होगया । सबकोही यह स्थिति प्राप्त करनी चाहिये । वह आत्मा कैसा और कहां है, इसका विचार निम्न मंत्रमें किया है, उसका अब अर्थ देखेंगे—

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो,
न विद्मो, न विजानीमो, यथैतदनुशिष्याद-
न्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ॥ इति
शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ ३ ॥

तत्र चक्षुः न गच्छति, ...	वहां आंख नहीं पहुंचती,
न वाक् गच्छति, न मनः, ...	न वाणी जाती है, और न मन,
न विद्मः ।	इसलिये हम उसको जानते नहीं ।
न विजानीमः, यथा एतद् अनु शिष्यात् ।	हमें उसका ऐसा ज्ञान नहीं है कि जिससे हम उसका उपदेश कर सकें ।
विदितात् तत् अन्यत् एव, अथ अधि अविदितात् ।	ज्ञात वस्तुसे वह भिन्नही है, और अज्ञातसे भी भिन्न है ।
इति पूर्वेषां शुश्रुम, ये नः तत् व्याचचक्षिरे ।	ऐसा पूर्व आचार्योंसे सुनते आये हैं, जो हमको उसका उपदेश करते आये हैं।

थोडासा विचार—आंख, कान, वाचा, मन आदि जो हमारीं इंद्रियां हैं, इनमेंसे कोईभी आत्माको नहीं जान सकता और न देख सकता है। नेत्र रूपका ग्रहण कर सकता है, परंतु आत्मा साकार न होनेके कारण नेत्र वहांसे कुंठित होकर वापस आता है; क्यों कि जहां आकार अथवा रूप नहीं होता, वहां नेत्र कार्य नहीं कर सकता। वाणी शब्दों द्वारा हरएक देखे, सुने और जाने हुए पदार्थोंका वर्णन कर सकती है; परंतु आत्मा देखा हुआ, सुना हुआ और जाना हुआ नहीं है, इस कारण वाणीसे उसका वर्णन होना सर्वथा असंभव है; इस लिये वाणी आत्माका वर्णन करनेके प्रसंगमें कुंठित हो जाती है। मन सबका चिंतन और मनन करता है, परंतु जिस विषयमें गुणावगुणोंका ज्ञान कुछ न कुछ होता है, उसीका मनन मन कर सकता है; परंतु आत्माके गुणोंका ज्ञान मनन होने योग्य न होनेके कारण, मन उसका मनन करनेके समय स्तब्ध हो जाता है। जो अवस्था नेत्र, वाणी और मनकी होती है वही अवस्था आत्माका विचार करनेके समय कान, नाक, जिव्हा, त्वचा आदिकी होती है। वाणी उसका वर्णन कर नहीं सकती, इस लिये कानसे उसका श्रवण नहीं होता; नाकसे वह सूंगा नहीं जाता क्योंकि उसमें गंध नहीं है; जिव्हासे वह चखा नहीं जाता, और त्वचासे उसका स्पर्शज्ञान नहीं होता। चित्त उसका चिंतन नहीं कर सकता। इस प्रकार संपूर्ण ज्ञान इंद्रियां जिसके विषयमें स्तब्ध और कुंठित हो जातीं हैं, उसके विषयमें स्वयंमूढ कर्मेंद्रियां बिचारीं क्या कर सकतीं हैं? अर्थात् जहांसे कर्मेंद्रियां और ज्ञान इंद्रियां पूर्णतासे गति कुंठित होनेके कारण वापस आतीं हैं, और मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार भी जिसके पास नहीं पहुंच सकते, तात्पर्य ये अंदरके इंद्रिय भी जहांसे हटकर पीछे वापस आजाते हैं, वहां आत्माका स्थान है। यही मुख्य कारण है कि, जिससे आत्माके विषयमें जानना असंभव हुआ है। क्यों कि जो जो जाननेके साधन हैं, वेह सब उसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

यहां कोई कहेगा कि, यदि किसी इंद्रियसे वह जाना नहीं जाता, तो "वह नहीं है" ऐसा क्यों नहीं कहते हैं? इस शंकाके उत्तरमें निवेदन है कि, "वह नहीं है ऐसा नहीं है, वह आत्मा है, परंतु जाना नहीं जाता"

उसके कारण ऊपर दियेही हैं, इस विषयमें उपनिषद् की बात देखने योग्य है—"स्वयंभुनें इंद्रियोंको बाहिर देखनेके लिये ही बनाया है, इस लिये इंद्रियां बाहिरके पदर्थों को देख सकतीं हैं, परंतु अंतरात्माको नहीं देख सकतीं। कोई एखाद धैर्यशील बुद्धिमान मनुष्य अमृतकी इच्छा करता हुआ, आंख बंद कर, आत्माको देखता है।" (कठ उ० २।१।१) यही सत्य है। इंद्रियोंका प्रवाह बाहिर चल रहा है, जब यह प्रवाह उलटा अंदर की ओर होगा, और बाहिरकी प्रवृत्ति बंद होगी, तब आत्माके अस्तित्वका ज्ञान हो सकता है। इसलिये कहा जाता है कि "उसको हम नहीं जानते।" जब कोई शिष्य पूछता है, उससमय कहा जाता है कि "हम उसको वैसा नहीं जानते कि, जिससे शिष्य को उसके विषयमें समझाया जा सकता है।" यह उत्तर सुनकर शिष्य हताश होंगे, परंतु वहां कोई इलाजही नहीं है। यह आत्माकी जो बात है वह "स्व-सं-वेद्य" अर्थात् "स्वयं ही विचार करके जानने योग्य है।"

शिष्यभी आत्माके विषयमें क्या पूछेगा और गुरु भी क्या कहेगा? क्योंकि "वह आत्मा प्राप्त किये हुए ज्ञानसे परे है, और न जाने हुए ज्ञानसे भी भिन्न है।" जितना इंद्रियों और मन आदिसे ज्ञात है, वह आत्मा नहीं है; तथा जो इंद्रियों और मन आदिसे गम्य और तर्क करने योग्य परंतु अज्ञात है, उससेभी वह विलक्षण है। इसलिये उसका उपदेश हरएकके लिये नहीं हो सकता, और न हरएक उपदेश कर सकता है। अब और देखिये—

यद्वाचाऽनभ्युदितं, येन वागभ्युद्यते ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥
यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनो मतम् ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥
यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

यत्प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

इति प्रथमः खंडः ॥ १ ॥

(४)

वाचा यद् अनभ्युदितं, ...	वाणी द्वारा जिसका प्रकाश नहीं होता, परंतु—
येन वाग् अभ्युद्यते ।	जिससे वाणीका प्रकाश होता है,
तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि ।	वही ब्रह्म है, ऐसा तू जान ।
यद् इदं उपासते न इदं । ...	जिसकी (वाणीद्वारा) उपासना की जाती है वह (ब्रह्म) नहीं है ।

(५)

यत् मनसा न मनुते, ...	जो मनसे विचार नहीं करता, परंतु—
येन मनः मतं, आहुः ।	जिससे मन विचार करता है, ऐसा कहते हैं ।
तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि, यद् इदं उपासते, न इदं ।	वही ब्रह्म है ऐसा तू समझ, जिसकी (मनद्वारा) उपासना होती है वह (ब्रह्म) नहीं है ।

(६)

यत् चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति ।	जो आंखसे नहीं देखता, परंतु जिससे आंख देखते हैं ।
तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि, यद् इदं उपासते, न इदं ।	वही ब्रह्म है ऐसा तू जान, जिसकी (नेत्र द्वारा) उपासना होती है, वह (ब्रह्म) नहीं है ।

(७)

यत् श्रोत्रेण न शृणोति, येन इदं श्रोत्रं श्रुतम् ।	जो कानसे नहीं सुनता, परंतु जिस से यह कान सुन सकता है ।

तद् एव ब्रह्म, त्वं विद्धि, यद् इदं उपासते, न इदम् ।	वही ब्रह्म है, ऐसा तूं समझ, जिसकी (कर्णद्वारा) उपासना होती है (वह ब्रह्म) नहीं है ।

(८)

यत् प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते ।	जो प्राणसे जीवित नहीं रहता, परंतु जिससे प्राण चलता रहता है ।
तत् एव ब्रह्म, त्वं विद्धि, यद् इदं उपासते, न इदम् ।	वही ब्रह्म है, ऐसा तूं जान, जिसकी (प्राणद्वारा) उपासना होती है, वह (ब्रह्म) नही है ।

॥ प्रथम खंड समाप्त ॥

थोडासा विचार—इन पांच मंत्रोंद्वारा पहिले तीन मंत्रोंमें कहा हुआ विषय ही स्पष्ट किया है । पहिले तीन मंत्रोंका सार निम्न प्रकार है—

प्रश्न-(मंत्र १)—मन, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि इंद्रियोंका प्रेरक कौन देव है ?

उत्तर-(मंत्र २)—श्रोत्र, मन, वाणी, प्राण, चक्षु आदिका प्रेरक एक आत्मदेव है, उसको स्वतंत्र करके बुद्धिमान लोक अमर होते हैं ।

(मंत्र ३)—उस आत्माके पास चक्षु, वाणी, मन आदि नहीं पहुंचते । इसलिये उसका वर्णन करने योग्य ज्ञान हमें नहीं है । वह ज्ञात और अज्ञात पदार्थों से भी विलक्षण है ।

इसका ही स्पष्टीकरण आगेके पांच मंत्रोंमें किया है । जिसका तात्पर्य निम्न प्रकार है—

(मंत्र ४-८)—वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र, प्राण आदि इंद्रियोंसे जो कार्य नहीं करता, परंतु जिसकी प्रेरणासे ये इंद्रिय कार्य करते हैं वही ब्रह्म है । उक्त इंद्रियोंसे जिसका ज्ञान होता है वह ब्रह्म नहीं है ।

सब अध्यात्म विषयका सार उक्त ४से८ मंत्रोंमें है। जो इंद्रियोंसे जाना जाता है, वह ब्रह्म किंवा आत्मा नहीं है। आंख जिसको देखती है, वह रूपका विषय है, परंतु ब्रह्मको रूप नहीं है; इसी प्रकार अन्य इंद्रियोंके विषय अन्य इंद्रियां प्राप्त करतीं है। यह उपासनाका संबंध निश्चितही है। आंख रूपकी उपासना कर सकता है, जिह्वा स्वादकी उपासना कर सकती है, नाक वासकी उपासना करता है, इस प्रकार अन्य इंद्रियां अन्य विषयोंकी उपासना कर रहीं हैं। परंतु यह आत्मा किसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विषयोंमें न होनेके कारण उक्त इंद्रियोंकेद्वारा उसका ग्रहण नहीं होता।

इंद्रियोंकी प्रवृत्ति अपने विषयको छोडकर दूसरे विषयके ग्रहणमें नहीं होती। आंख शब्द श्रवणमें असमर्थ है, और कान रूप देखनेमें असमर्थ है; इसी प्रकार अन्य विषयोंके संबंधमें समझना उचित है। परंतु अंधा मनुष्य स्पर्शज्ञानसे अपने सब व्यवहार चला सकता है; उस प्रकार किसी भी इंद्रियसे, अथवा सब इंद्रियोंके संघसेभी आत्माका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जो सूंघा नहीं जाता, जो चखा नहीं जाता, जिसको आकार नहीं है, जिसको स्पर्श करना असंभव है, और जो सुना नहीं जाता, कोई गुण ज्ञात न होनेके कारण जिसका मननभी नहीं हो सकता, वह आत्मा है; इसलिये कोई इंद्रिय उसको नहीं प्राप्त कर सकता।

परंतु उसकी प्रेरणासे संपूर्ण इंद्रिय और अवयव अपना अपना निज कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। यह उसकी ही शक्ती है जो इंद्रियों द्वारा प्रकट हो रही है। तात्पर्य यह आत्मा अथवा ब्रह्म इंद्रियोंका प्रेरक है, परंतु इंद्रियां इसकी प्रेरक नहीं हैं। पाठको! यही आपका आत्मा है। जो आपका आत्मा है वही आपके इंद्रियोंको प्रेरणा दे रहा है। यह जो शरीर में सर्वत्र कार्य कर रही है वह आपकी आत्मशक्ति ही है। इसको यथा-वत् अनुभव करना आवश्यक है।

सब इंद्रियोंको "देव" कहते हैं। इन सब देवोंका प्रेरक "आत्मा अथवा ब्रह्म" है। आत्माकी अथवा ब्रह्मकी शक्तिके विना कोई देव अपना

कार्य करनेमें सर्वथा असमर्थ है, क्योंकि आत्मशक्ति ही संपूर्ण देवोंमें व्याप्त होकर वहांका कार्य कर रही है। जो इस बातको समझेंगे और अनुभव करेंगे, उनको बहुतसी कथाओंकी संगति स्वयं ही लग सकती है। किसी एक देवका महत्त्व और अन्य देवोंका गौणत्व कई गाथाओंमें वर्णन किया है। जो मुख्य देव है वह आत्मदेव है, और अन्य देव अन्य इंद्रियां हैं। शरीरके अंदर देखना हो, तो "आत्मा और इंद्रियां" समझना चाहिये, और बाह्य जगत् में देखना हो तो "परमात्मा और अग्नि आदि देव" लेना उचित है। क्यों कि दोनों स्थानोंमें एकही रीति है। आत्मशक्तिका प्रभाव ही अन्य इंद्रियों और अग्नि आदि देवोंमें है। इस आत्मशक्ति को "देवी" समझकर उससे अन्य देवताओंका गौणत्व जिस कथामें बतलाया है, वह कथा इसी पुस्तक के तृतीय प्रकरणमें दी है। इस प्रकारकी अन्य कथाएं बहुतसीं हैं, उनका तात्पर्य इसी प्रकार समझना उचित है।

प्रेरक आत्मदेवकी मुख्यता और अन्य प्रेरित होनेवाले देवोंकी गौणता स्पष्ट ही है। यद्यपि "देव" शब्द यहां प्रेरक और प्रेरित इनमें समान रीतिसे प्रयुक्त हो सकता है, तथापि उस कारण घबराना नहीं चाहिये; ऐसे प्रयोग सहस्रों स्थानोंमें होते हैं। राजा और ओहदेदार ये सब मनुष्य ही होते हैं, परंतु राजस्थानका मनुष्य राष्ट्रका किंवा सब ओहदेदार मनुष्योंका प्रेरक होता है और सब ओहदेदार उससे प्रेरित होते हैं। दोनों स्थानोंमें "मनुष्य, नर" आदि शब्द समान रीतिसे प्रयुक्त होनेपर भी कोई घबराहट नहीं होती; उसी प्रकार दोनों स्थानोंमें "देव" शब्द प्रयुक्त होनेपर भी कोई संदेह होना नहीं चाहिये। वस्तुस्थितिका ज्ञान न होनेसे ही संदेह होता है। वास्तविक बातोंका यथावत् ज्ञान होनेसे संदेह नहीं हो सकता। अस्तु। इस प्रकार आत्मा और इंद्रियोंका, तथा परमात्मा और अग्न्यादि देवोंका "प्रेरक और प्रेर्य संबंध" है यह यहां निश्चय हुआ। इस प्रकार प्रथम खंडका मनन करनेके पश्चात् द्वितीय खंडका अवलोकन कीजिए—

द्वितीयः खंडः।

यदि मन्यसे सुवेदेति, *दहरमेवापि नूनम् ॥
त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य, त्वं यदस्य
देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ ९ ॥(१)

यदि सु-वेद इति मन्यसे।...	यदि (ब्रह्म) उत्तमतासे ज्ञात हुआ है ऐसा तू मानता है, तो—
दहरं एव अपि नूनम्।	(तुझे वह) निश्चयसे अज्ञात ही है।
यद् अस्य ब्रह्मणः रूपं त्वं वेत्थ,	जो इस ब्रह्मका रूप तू जानता है,
यद् अस्य त्वं देवेषु [वेत्थ],	और जो इस (ब्रह्मका रूप) तू देवोंमें देखता है, वह—
ते विदितं, मीमांस्यं एव, नु मन्ये।	तेरा जाना हुआ, (पुनः) विचार करने योग्य ही है, ऐसा मैं मानताहूं।

थोडासा विचार—गुरु कहता है कि, "हे शिष्य ! यदि तू उस ब्रह्मको ठीक प्रकार जानता है, ऐसा तेरा ख्याल हुआ है; तो निश्चय समझ, कि तू उसका स्वरूप कुच्छभी नहीं जानता। इस ब्रह्मका जो रूप तेरे समझमें आगया है, और जो उस ब्रह्मका रूप तूं देवोंमें देख रहा है, वह वास्तवमें उस ब्रह्मका पूर्ण रूप नहीं है। यदि इतना ज्ञान होनेसेही तू समझने लगा है कि, तुझे ब्रह्मज्ञान हुआ है; तो निश्चयसे समझ कि तुमने कुच्छभी समझा नहीं है, और तुझे फिरसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।"

तृतीय मंत्रके कथनका ही विवरण इस मंत्रमें है। इसका तात्पर्य स्पष्ट ही है कि, उस ब्रह्मका सामर्थ्य अथवा उस आत्माका स्वरूप ऐसा और उतना अगाध है कि, कोई उसका आकलन नहीं कर सकता। मनुष्यका मन उसको जानही नहीं सकता, फिर इंद्रियों को तो उसका पता क्या लगना है? इसलिये उसको अचिंत्य, अतर्क्य, अज्ञेय, अदृष्ट, अव्यवहार्य,

---

* "दभ्रं" इति पाठान्तरम् "दहरं दभ्रं" अल्पं अज्ञातं वा इत्यर्थः ॥

अग्राह्य, अलक्षण, आदि शब्दोंसे बताते हैं। वह आत्मा है, परंतु वह अतर्क्य है। अब और सुनिये—

नाऽहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति वेद च ॥
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो, न वेदेति वेद च ॥ १० ॥ (२)
यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः ॥
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥ ११ ॥ (३)

(१०)

सुवेद इति, अहं न मन्ये। ...	(वह) सुगमतासे जानने योग्य है, ऐसा, मैं नहीं मानता।
"न वेद" "वेद" इति च नो।	"मैं नहीं जानता" अथवा "मैं जानताहूं" ऐसा (भी वह ब्रह्म) नहीं है।
यः नः तद् वेद, तत् नो वेद। ...	जो हमारेमेंसे (समझता है कि) उसको जान लिया, उसको वह नहीं समझा है। तथा—
न वेद इति, वेद च।	(जो समझता है कि) मैं नहीं समझा, उसको समझा है।

(१२)

यस्य अ-मतं, तस्य मतम्। ...	जिसको नहीं समझा है, वही जानता है, परंतु—
यस्य मतं, स न वेद।	जिसको समझा है, वह नहीं जानता है। तात्पर्य—
विजानतां अविज्ञातं, अविजानतां विज्ञातम्।	ज्ञानियोंके लिये अज्ञेय और अज्ञानियोंके लिये विज्ञातसा प्रतीत होता है।

थोडासा विचार—ब्रह्म किसी इंद्रियसे जाना नहीं जाता, इसलिये उसका परिपूर्ण ज्ञान होना अशक्य है। इसलिये उसको वेही ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि, जो समझते हैं कि, "वह अतर्क्य, अज्ञेय और अचिंत्य है।"

हम उसको पूर्णतया नहीं समझ सकते, इस बातका अंतःकरणमें पूर्ण रीतिसे अनुभव होना ही उसको जानना है, और यही सच्चे ज्ञानियोंका लक्षण है।

अज्ञानियोंका लक्षण भी उक्त मंत्रमें कहा है । जो समझते हैं कि "ब्रह्म स्वरूपका हमें पता लगा है, ब्रह्म हमनें यथावत् जान लिया है" वेही उसको नहीं जानते, और वेही अज्ञानी हैं ।

ज्ञानकी घमंड ही अज्ञानका लक्षण है, और सच्चे ज्ञानसे घमंड दूर होकर गंभीरता प्राप्त होती है । अस्तु । अब इस ज्ञानका फल देखिये—

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ॥
आत्मना विन्दते वीर्यं, विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ १२ ॥ (४)
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्-
महती विनष्टिः ॥ भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ १३ ॥ (५)

इति द्वितीयः खंडः ॥

(१२)

प्रति-बोध-विदितं मतम् ...	प्रत्येक बोध से जो विदित होता है वही निश्चित ज्ञान है। जिससे—
हि अ-मृतत्वं विन्दते ।	निश्चयसे अमरत्व प्राप्त होता है ।
आत्मना वीर्यं विन्दते ।	आत्मासे बल प्राप्त होता है । और
विद्यया अमृतं विन्दते ।	ज्ञानसे अमरत्व मिलता है ।

(१३)

इह चेत् अवेदीत्, अथ सत्यं अस्ति ।—	यहां ही यदि ज्ञान हुआ, तो ठीक है । अन्यथा—
इह चेद् न अवेदीत्, महती विनष्टिः ।	यहां यदि ज्ञान न हुआ, तो बडी विपत्ति होगी ।
धीराः भूतेषु भूतेषु विचित्य, अस्मात् लोकात् प्रेत्य, अ-मृताः भवन्ति ।	बुद्धिमान प्रत्येक भूतमें ढूंढ कर, इस लोक से चले जानेके बाद, अमर होते हैं ।

द्वितीय खंड समाप्त ।

थोडासा विचार—प्रत्येक बोधसे जो जाना जाता है वह आत्मा है। जिस समय कोई बोध होता है, उस समय ऐसा विदित होता है कि, एक आत्मा अंदरसे ज्ञान ले रहा है। प्रत्येक बोध होने के समय इस अनुभव को देखना चाहिये। अंदरसे ज्ञाता ज्ञान ले रहा है, यह अनुभव होनेसे प्रत्येक बोध होनेके समय आत्मा का ज्ञान अनुभव में आता है। इस ज्ञानसे ही अमरपनकी प्राप्ति होती है। क्योंकि इसीप्रकार के विचारसे "मैं आत्मा हूं" यह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, और यही अमर होनेका कारण है।

आत्मासे ही सब बल प्राप्त होता है। शरीरका चालक आत्मा है अर्थात् शरीर से आत्माकी शक्ति अधिक है; इंद्रियोंका प्रेरक आत्मा है, इसलिये इंद्रियोंकी अपेक्षा आत्मा अधिक समर्थ है; प्राणका प्रवर्तक आत्मा है, इसलिये प्राणसे इसकी शक्ति अधिक है; मन का संचालक आत्मा है इसलिये मनसे वह अधिक शक्तिशाली है; इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है कि, प्रेरक होनेसे आत्मा सबसे अधिक शक्तिशाली है। यदि कोई मनुष्य अपनी शारीरिक शक्तिका गर्व करता है, तो निः-संदेह यह समझिये कि, उसकी शारीरिक शक्ति उसकी आत्मशक्तिसे कमही है; परंतु उस विचारेको अपनी शारीरिक शक्तिका पता है और आत्मशक्तिका पता नहीं। जिसको अपनी आत्मशक्तिका पता लगा है, उसको सबसे श्रेष्ठ शक्तिका ज्ञान हुआ है। अल्पशक्तिका ज्ञान जिसको है, उसकी अपेक्षा वह निःसंदेह श्रेष्ठ है जिसको कि विशाल शक्तिका ज्ञान हुआ है। यही आत्मज्ञानका महत्व है। जो बात शरीर स्थित आत्माके विषयमें सत्य है वही सर्वव्यापक परमात्माके विषयमें निःसंदेह सत्य है।

इसलिये कहा है कि, "आत्मा से बल प्राप्त होता है, और विद्या से अमरपन प्राप्त होता है।" आत्मशक्ति सबसे श्रेष्ठ होनेसे जो उसको ज्ञानसे प्राप्त करता है वही श्रेष्ठ बनता है। ज्ञानसे ही आत्मशक्ति प्राप्त की जाती है इसलिये विद्याज्ञानका महत्व है और इसी हेतुसे कहाहै कि "विद्यासे अमृत प्राप्त होता है।"

"यहां ही यदि ज्ञान हुआ तो ठीक है, नहीं तो बडी हानी होगी।" अर्थात् यहां इस नरदेहमें रहनेकी अवस्थामें ज्ञान हुआ तो ठीक है, क्यों कि अन्य जो पशुपक्षियोंके देह हैं, उनमें आत्मज्ञान होना असंभव है। यह एक ही मनुष्य देह है, जिसमें रहता हुआ मनुष्य उक्तज्ञान प्राप्त कर सकता है। मनुष्ययोनी जागृतिकी योनी है, पशुपक्षिकृमिकीटोंकी योनी स्वप्नयोनी है, वृक्षवनस्पतियोंकी योनी सुषुप्तियोनी है और पत्थर आदिकी योनी तुर्यायोनी है। आत्माकी चार अवस्थायें सृष्टिमें इस प्रकार हैं। अकेले मनुष्य शरीरमें तथा सब प्राणियोंके शरीरमें भी उक्त चार अवस्थाओंका अनुभव आता है, परंतु कोई अन्य प्राणी इन अवस्थाओंका विचार नहीं कर सकता; अकेला मनुष्य ही इन अवस्थाओंका ठीकठीक विचार कर सकता है। उक्त चार अवस्थाओंमें जागृतिकी अवस्थामें ही विद्याध्ययन, ज्ञानप्राप्ति, आत्माके अनुभव का अनुष्ठान आदि हो सकता है, वह अन्य तीन अवस्थाओंमें नहीं होसकता। इसीप्रकार जागृतिपूर्ण मानवयोनीमें ही उक्तज्ञान प्राप्त करना शक्य है, अन्य योनियोंमें उसका संभवभी नहीं है। इसीलिये कहा है कि "यहां ज्ञान हुआ तो ठीक, नही तो बडा घात होगा" इस कथनका विचार हरएकको करना चाहिये।

"प्रत्येक भूतमात्रमें आत्माको ढूंढ ढूंढ कर देखना चाहिये।" प्रत्येक स्थानमें आत्माका अस्तित्व है और प्रत्येक स्थानमें उसकी शक्तिका चमत्कारभी हो रहा है। विचारकी दृष्टिसे उसको देखना चाहिये और उसके विषयमें अपने अंतःकरणमें जागृति रखनी चाहिये। ऐसा करनेसे वह सर्वत्र है ऐसा ज्ञान होने लगता है। वह सब भूतोंमें नहीं है। यह अनुभवयुक्त विश्वास अंतःकरणमें स्थिर होना चाहिये। ऐसा अनुभवपूर्ण विश्वास जिसके अंदर स्थिर होगा, वह आत्मरूप बनकर अमर होता है। वास्तवमें हरएक प्राणीमें आत्मा है, इसलिये हरएक आत्मरूप ही है। परंतु मनुष्योंमें भी बहुतथोडे ऐसे हैं कि, जो अपनी आत्मशक्तिसे परिचित हैं। इसलिये अनुभवपूर्ण विश्वाससेही आत्मरूप बनना होता है। जिसको उक्त अनुभव होगा वह आत्मरूप बननेके कारण "अ-मर" बनता है। सब प्राणियोंका विचार ही छोड दीजिये, प्रायः सब मनुष्य

शरीररूप होते हैं; शरीरके कृश होनेसे वे अपने आपको कृश समझते हैं, और शरीरके बलवान होनेसे वे अपने आपको बलवान मानने लगते हैं!! इस प्रकार अपने आपको शरीररूप समझ कर शरीरकी सब कमजोरियां अपने ऊपर लेते हैं!!! यही अज्ञान है। इस अज्ञानको दूर करना और अपने आपको आत्मरूप और शरीरसे पृथक् परंतु शरीरका संचालक समझकर, अपनी आत्मशक्तिका प्रभाव देखना और अनुभव करना आत्मविद्याका उद्देश है। इसका अनुभव जब होता है, तब **"मरणधर्मी शरीरसे मैं पृथक् हूं और मैं वस्तुतः अविनाशी हूं"** यह अनुभव आता है। अपने अविनाशित्वका अनुभव होते ही अमर बनजाता है। अपने अविनाशित्वके साथ उसको अपनी आत्मशक्तिके अन्यप्रभाव भी ज्ञात होते हैं, और यह ज्ञान होनेके पश्चात् वह फिर किसी कारणभी संशयसे ग्रस्त नहीं होता।

अब यही बात अलंकारसे बताई जाती है—

तृतीयः खंडः।

ब्रह्मका विजय और देवोंका गर्व।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये, तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अ-महीयन्त, त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥ १४ ॥ (१) तद्धैषां विजज्ञौ, तेभ्यो ह प्रादु-र्बभूव, तन्न व्यजानन्त, किमेतद्यक्षमिति ॥ १५ ॥ (२)

(१४)

ब्रह्म ह देवेभ्यः वि-जिग्ये। ...	ब्रह्मने निश्चयसे देवोंके लिये विजय किया।
तस्य ब्रह्मणः ह विजये देवाः अमहीयन्त।	उस ब्रह्मके विजयसे सब देव बडे होगये।
ते ऐक्षन्त, अस्माकं एव अयं विजयः, अस्माकं एव अयं महिमा इति।	वे समझने लगे कि, हमारा ही यह विजय है, और हमाराही यह महिमा है।

(१५)

तत् ह एषां विजज्ञौ, ………	उस (ब्रह्म)नें इन (देवों) का (भाव) जान लिया, और—
तेभ्यः ह प्रादुर्बभूव। ………	उनके सामने वह प्रकट हुआ।
"किं इदं यक्षं" इति तत् न व्यजानन्त।	तब "यह पूज्य कौन है" यह वे न जान सके।

थोडासा विचार—पूर्व दो खंडोंमें जो तत्वज्ञान कहा है वही रूपकालंकारसे अब वर्णन किया जाता है। यहां का भाव व्यक्तिमें तथा जगत्में पूर्वोक्त रीतिसे ही देखने योग्य है। "देव" शब्दका अर्थ व्यक्तिके शरीरमें इंद्रिय है, और बाह्य जगत्में अग्नि वायु आदि देवतायें हैं। "ब्रह्म" शब्द दोनों स्थानोंमें समान अर्थमें ही प्रयुक्त होता है, परंतु विषय स्पष्ट होनेके लिये शरीरमें "आत्मा" और जगत्में "परब्रह्म, परमात्मा, परेष्ठी प्रजापति" समझना उत्तम है। अब इसका भाव निम्न प्रकार समझना चाहिये—

आध्यात्मिक भाव=(व्यक्तिमें)=आत्माकी शक्तिसे शारीरिक शत्रुओंका नाश हुआ। इस आत्मशक्तिके प्रभावसे सब इंद्रियोंका महत्त्व बढ गया। इस प्रभावके कारण इंद्रियोंको बडी घमंड हुई, वे समझने लगे कि हमारे पीछे कोई शक्ति नहीं है और जो यहां कार्य हो रहा है, हमारे प्रभावसे ही हो रहा है। यह इंद्रियोंका भाव आत्माने जानलिया, और वह उनके सन्मुख प्रकट हुआ। परंतु कोई भी इंद्रिय उस प्रकट हुए आत्माके स्वरूपको न जान सके।

हमारे शरीरमें प्रतिक्षण आत्माकी शक्तिसे पोषक दैवी शक्तियोंका विजय और घातक आसुरी शक्तियोंका पराजय हो रहा है। यह युद्ध इस "कुरु क्षेत्र" पर अथवा "कर्म–भूमि" पर चलही रहा है। इसी युद्धके कारण और आत्माके विजय प्राप्त करनेके हेतुसे हम जीवित रहते हैं। जिस समय इस युद्धसे यह "विजय आत्मा" पीछे हटता है, तब देवोंका पराभव होकर इस शरीररूपी राष्ट्रका नाश होता है। पाठक इस युद्धको जानेंगे तो उनको पता लग सकता है कि, इस प्रतिक्षणके युद्धमें आत्मा सब

इंद्रियोंको कितना सहाय्य कर रहा है । वास्तवमें यह युद्ध आत्माकी शक्तिसे ही हो रहाहै, परंतु यह बात न समझनेके कारण इंद्रियां समझ रहीं हैं कि, हमही विजय संपादन करनेमें समर्थ हैं । जो बात भारतीय युद्धमें श्रीकृष्णभगवान् कर रहे थे, वही बात आत्मा इस देहमें कर रहा है । श्रीकृष्णकी शक्तिसेही पंचपांडवोंको जय प्राप्त हुआ, श्रीकृष्णके सन्निध रहनेसेही अर्जुन का नाम "विजय" सार्थ हुआ । वही बात यहां है, पाठक विचार करेंगे तो उनको स्वयं पता लग सकता है । आत्माकी शक्तिही पंचप्राणों अथवा पंच इंद्रियोंको जय दे रही है, आत्माके साथ रहनेसे ही मनका "विजय" इस कर्मक्षेत्र पर हो रहा है और सब दुष्ट भावनाओंका नाश हो रहा है । यह युद्ध प्रत्यक्ष हो रहा है, परंतु थोडेही उसको यथावत् जानते हैं । पांडवोंकी कथाका यहां जो विलक्षण साम्य है, वह भी यहां देखने योग्य है—

(इतिहासमें)		(जगत्में)	(शरीरमें)	
श्रीकृष्ण	वसु-देव-सुत	ब्रह्म	आत्मा	प्रेरक
अर्जुन	इंद्र- पुत्र	इंद्र (विद्युत)	मन	प्रेरित
भीम	वायु-सुत	वायु	प्राण	
युद्धिष्ठिर	अग्नि-सुत यम- पुत्र	अग्नि	शब्द वाणी	
नकुल, सहदेव	अश्विनी-सुत	अश्विनौ	दो शक्तियां	”

ऋग्वेद मं. १।६६।४ में "यम" शब्द अग्निवाचक आया है । उक्त ६६ वां अग्निसूक्त ही है । तथा अन्यत्रभी "यम" का अग्नि के साथ संबंध है, इस अनुसंधानसे "यम-पुत्र" युधिष्ठिरको "अग्नि पुत्र" लिखा है । पाठक इसका अधिक विचार करें । "कुरुक्षेत्र" पर जो शतविध राक्षसी भावनाओंके साथ पंच दैवी शक्तियोंका युद्ध हुआ था, वह आध्यात्मिक कुरुक्षेत्रपर हर समय हो रहा है । जब पाठक इसका अनुभव करेंगे तब उनको आत्मशक्तिका ही वहां पता लगेगा ।

आधिदैविक भाव = (जगत् में) = उक्त निरूपण से आधिदैविक भावभी पाठकों को ज्ञात हुआही होगा । बाह्य जगत् में अग्नि, वायु, वि-

द्युत् आदि देवतायें परब्रह्मकी शक्तिसे प्रेरित होकर कार्य कर रहीं हैं। परंतु इनकोभी परब्रह्मका पता नहीं है। इत्यादि बात स्वयं स्पष्ट हो सकती है। परब्रह्म यक्षरूपसे देवोंके सामने प्रकट हुआ, तथापि देव उसको न जान सके। इसके पश्चात् जो हुआ वह निम्न मंत्रोंमें है—

अग्निका गर्वहरण ।

ते अग्निमब्रुवञ्जातवेद! एतद्विजानीहि, किमेतद् यक्षमिति, तथेति ॥ १६ ॥ (३) तदभ्यद्रवत्, तमभ्य-वदत्, कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ १७ ॥ (४) तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्य-मित्यपीदꣳ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥१८॥ (५) तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति, तदुपप्रेयाय, सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं, स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं, यदेतत् यक्षमिति ॥ १९ ॥ (६)

(१६)

ते अग्निं अब्रुवन्, ... जातवेद! एतद् विजानीहि किं एतत् यक्षं इति ।	वे (देव) अग्निसे कहने लगे, कि जात-वेद! यह जानो कि यह पूज-नीय क्या है?

(१७)

तथा इति, तद् अभ्यद्रवत् ।...	ठीक है ऐसा कह कर, वह दौडता हुआ गया ।
तं अभ्यवदत्, कः असि इति ।	उसे (ब्रह्म) बोला, कि कौन है (तूं)!
अहं अग्निः वै अस्मि इति, जा-तवेदाः वै अहं अस्मि इति अब्रवीत् ।	मैं अग्नि हूं, जातवेद निश्चयसे मैं हूं, ऐसा उस (अग्नि) नें उत्तर दिया ।

(१८)

तस्मिन् त्वयि किं वीर्यम् ? इति, ।	तुझमें क्या बल है ? (ब्रह्मने पूछा)
यद् इदं पृथिव्यां, इदं सर्वं अपि दहेयम् ।	इस पृथिवीपर जो कुछ है, यह सब मैं जला दूंगा । (अग्निनें उत्तर दिया)

(१९)

तस्मै तृणं निदधौ, एतद् दह इति ।	उसके सन्मुख घास रख दिया, (और ब्रह्मने कहा कि) इसको जलाओ।
तद् उप-प्र--इयाय, सर्वजवेन तत् दग्धुं न शशाक ।	(अग्नि) उसके पास गया, (परंतु) सब वेगसे उसको जला न सका ।
स ततः एव नि-ववृते, यद् एतद् यक्षं इति, एतत् विज्ञातुं न अशकम् ।	वह (अग्नि) वहांसे ही पीछे हटा, (और उन्होंनें देवोंसे कहा कि) जो यह पूज्य है, इसको जाननेमें मैं असमर्थ हूं

थोडासा विचार—जो बाह्य सृष्टिमें अग्नि है वही शरीरमें वाणी है । ऐतरेय उपनिषद् (१ । ४) में कहा है कि [आग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्] "अग्नि वाणी बन कर मुखमें प्रविष्ट हुआ है ।" यही बात स्मरण करते हुए यहांके अग्निशब्दसे व्यक्तिकी वाक्शक्ति लेनी उचित है । इसकी सूचना देनेके लियेही इस मंत्रमें अग्निका पर्यायशब्द "जात–वेद" प्रयुक्त किया है । जिससे वेद बने हैं, जिससे शब्द सृष्टि बनी है वह वाग्देवी ही है । तात्पर्य अग्नि, वाणी, सरस्वती आदिका संबंध इस प्रकार है । जगत्में अग्निदेव ब्रह्मको नहीं जान सकता, ब्रह्मशक्तिके विना वह एक तिनके कोभी जला नहीं सकता, इसीलिये वह ब्रह्मशक्तिके सामने परास्त होकर वापस आगया है ।

व्यक्तिकी आग्नेयशक्ति वाणी भी आत्माका वर्णन नहीं कर सकती । आत्माके सन्मुख जब वाणी पहुंचती है, तब कुंठित होकर वापस ही आती है । इसीलिये इसी उपनिषद्में कहा है कि "वहां वाणी नहीं जाती ।"

(मंत्र ३), तथा "जो वाणीसे प्रकाशित नहीं होता, परंतु जिससे वाणी प्रकाशित होती है ।" (मंत्र ४), इ० । संपूर्ण वेद शब्दरूप होनेसे इस वेदवाणीसेभी ब्रह्मका अथवा आत्माका यथार्थ और परिपूर्ण वर्णन होचुका है, ऐसा समझना उचित नहीं है । यद्यपि अन्य ग्रंथोंकी अपेक्षा वेद उस ब्रह्मकी कल्पना अधिक स्पष्टतापूर्वक दे रहे हैं, तथापि जिसका वर्णन शब्दोंसे होही नहीं सकता, जहां वाचाकी गति कुंठित होती है, उसका वर्णन अचिंत्य, अतर्क्य आदि शब्दोंसे अधिक नहीं हो सकता । इससे वेदोंकी योग्यता कम नहीं होती, शब्दोंसे जितना व्यक्त किया जासकता है उतना वेदोंनें बता दिया है, आगेकी बात अनुष्ठानादिसे प्राप्त होती है । इसप्रकार जगत्में अग्निदेवके और व्यक्तिमें वाग्देवीके गर्वका निराकरण हो गया । अब वायुदेवके गर्वका परिणाम देखिये—

वायुका गर्वहरण ।

> अथ वायुमब्रुवन्, वायवेतद्विजानीहि, किमेतद्यक्षमिति, तथेति ॥ २० ॥ (७) तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्, कोऽसीति, वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ २१ ॥ (८) तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ २२ ॥ (९) तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति, तदुपप्रेयाय, सर्वजवेन तन्न शशाकाऽऽदातुं, स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं, यदेतद्यक्षमिति ॥ २३ ॥ (१०)

(अथ) पश्चात् देवोंनें वायुसे कहा, कि (वायो) हे वायो ! यह जानो कि यह पूज्य क्या है ? ठीक है ऐसा वायुने कहा ॥ २० ॥ और वह दौडा । उसे ब्रह्म ने पूछा कि तू कौन है । वह बोला कि मैं वायु हूं, मैं मातरिश्वा हूं ॥ २१ ॥ तेरेमें क्या बल है ऐसा पूछनेपर उसनें उत्तर दिया कि, जो कुच्छ इस पृथ्वीपर है वह सब मैं उठा सकता हूं ॥ २२ ॥ उसके सामने घास रखा और कहा कि इसको उठाओ । वह उसके पास गया, परंतु सब वेगसेभी वह उसे उठा न सका । इसलिये वह वहांसे ही लौटा, और उसने देवोंसे कहा कि, यह कौन यक्ष है, मैं नहीं जान सकता ॥ २३ ॥

थोडासा विचार—अग्निकी कथामें जो जैसे शब्द हैं वैसेही शब्द इसमें हैं, इसलिये अलग अलग वाक्योंका अर्थ यहां नहीं दिया। पाठक पूर्व मंत्रोंके अनुसारही इन मंत्रोंको जान सकते हैं। बाह्य जगत्में वायुदेव ब्रह्मका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, इसीप्रकार शरीरके अंदरके जगत्में प्राणभी आत्माका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। ऐतरेय उपनिषद् (१।४) में कहा है कि [वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्] "वायु प्राण बनकर दोनों नासिकाछिद्रोंमें प्रविष्ट हुआ।" बाह्य वायुका यह अंशरूपसे अवतार इस कर्मभूमिमें हुआ है। यह प्राण बडा प्रयत्न करता है, परंतु यह आत्माका ज्ञान नहीं जान सकता। "जो प्राणसे जीवित नहीं रहता, परंतु जिससे प्राण चलाया जाता है वह ब्रह्म है।" ऐसा इसी उपनिषद् (मंत्र ७) में कहा है। इससे सिद्ध है कि आत्मा "प्राण का ही प्राण" है (२ मंत्र देखो)। इसीलिये ब्रह्मके सन्मुख वह परास्त होकर वापस आगया, क्योंकि ब्रह्मकी शक्तिसे ही प्राण और वायु ये दोनों कार्य कर रहे हैं। उस आत्मशक्तिके विना इनसे कार्य नहीं होसकता, यह बात स्पष्टही है। यद्यपि वायुमें अथवा प्राणमें बडा बल है, इसलिये देवोंमें वायुको और इंद्रियोंमें प्राणको भीम तथा महावीर कहते हैं, तथापि वह ब्रह्मका ज्ञानी नहीं होसकता। उससे शारीरिक बल जितना चाहे बढ सकता है, परंतु इस बलसे आत्माका ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार दोनों स्थानोंका भाव पाठक देख सकते हैं। अब इंद्रका प्रयत्न होना है—

इंद्रका गर्वहरण।

अथेंद्रमब्रुवन्, मघवन्नेतद्विजानीहि,
किमेतद्यक्षमिति, तथेति, तदभ्यद्रवत्,
तस्मात्तिरोदधे ॥ २४ ॥ (११)

अथ इंद्रं अब्रुवन्, मघवन्! किं एतत् यक्षं इति एतत् विजानीहि।	पश्चात् (देवोंनें) इंद्रसे कहा, कि हे धनसंपन्न! कौन यह यक्ष है यह जानो।
तथा इति, तद् अभ्यद्रवत्।...	ठीक है, (ऐसा कह कर इंद्र) उसके पास चला गया। परंतु—
तस्मात् तिरः-दधे।	उसके सामनेसे (वह यक्ष) गुप्त हो गया।

थोडासा विचार—अग्नि वायु आदि देवोंका अधिपति इंद्र है, यहां शरीरमें वाणी प्राण आदिका अध्यक्ष मन है। जिस वैद्युत् तत्वका इंद्र है उसी तत्वका मन है। इसी उपनिषद् में आगे (मंत्र २९, ३० में) "जो अधिदैवतमें विद्युत् है वही आध्यात्ममें मन है" ऐसा सूचित किया है। इसलिये यहां ऐसाही समझना उचित है। यह मन आत्माकी खोज करनेकेलिये गया, परंतु वह उस आत्माको न देख सका। इसी उपनिषद् (मंत्र ३) में कहा है कि "वहां मन नहीं जा सकता" तथा (मंत्र ५ में) "जो मनसे नहीं मनन करता परंतु जिससे मन मनन करता है वह ब्रह्म हैं" ऐसा स्पष्ट कहा है। इसलिये मनभी आत्माका साक्षात्कार नहीं कर सकता, तथा इंद्रभी ब्रह्मका अनुभव नहीं प्राप्त कर सकता, यह सत्यही है। परंतु आंख, नाक, कान, जिव्हा, त्वचा आदि इंद्रियोंकी अपेक्षा मनकी शक्ति अधिक है, इसी प्रकार अग्नि आदि देवोंकी अपेक्षा इंद्रकी शक्ति अधिक है। इसलिये येही आत्माका बोध थोडासा प्राप्त कर सकते हैं। मनभी उसका कुछ न कुछ तर्क कर सकता है। अब वह इंद्र उमादेवीकी शरण जाकर ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करेगा, देखिये निम्न मंत्र—

इंद्रको उमा देवीका उपदेश ।

स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना-
मुमाँ हैमवतीं ताँ होवाच, किमेतद्यक्षमिति ॥ २५ ॥ (१२)
(२५)

तस्मिन् एव आकाशे बहुशोभमानां हैमवतीं उमां स्त्रियं स आजगाम ।	उसी आकाशमें अति शोभायमान हैमवती उमा नामक स्त्रीके सन्मुख वह (इंद्र) आगया ।
किं एतत् यक्षं इति, तां ह उवाच ।	कौन यह यक्ष है ऐसा, उस स्त्रीसे उसने पूछा ।

इति तृतीयः खंडः ॥

अथ चतुर्थः खंडः

सा ब्रह्मेति होवाच, ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्व-
मिति, ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति ॥ २६ ॥ (१)

(२६)

सा ह उवाच, ब्रह्म इति । ...	उस (स्त्री) नें कहा कि वह ब्रह्म है। और—
ब्रह्मणः वै विजये एतत् महीयध्वं इति ।	ब्रह्मकेही विजयमें इस प्रकार आप बडे हो जाइये ।
ततः ह एव, ब्रह्म इति विदांचकार ।	इसप्रकार, वह ब्रह्म है, ऐसा उसको ज्ञान हुआ ।

थोडासा विचार—हैमवती उमाका दर्शन करनेसे इंद्रको पता लगा कि वह ब्रह्म है, जिसकी शक्तिसेही सब देवोंका विजय हुआ था और उनका महत्व बढ गयाथा । इसलिये देवोंको उचित है कि, वे अपने संचालक ब्रह्मशक्तिको अपने ऊपर मानें और उसी ब्रह्म शक्तिके गौरवमें अपना गौरव समझें ।

शरीरमें "पर्वत" पृष्ठवंश अथवा मेरुदंड है, इस हिमवान पर्वतके मूल में कुंडलिनी शक्ति है वही पार्वती उमा है । वह शिवजीकी प्राप्तिकेलिये तपस्या कर रही है । शिव, रुद्र, महादेव, एकादशरुद्र, प्राणसमेत आत्मा-आदि सब एकही है । प्राणके पीछे चलता हुआ मन कुंडलिनीशक्तिका दर्शन करता है, और इस कुंडलिनीका संबंध प्राणयुक्त आत्मबुद्धिमनके साथ होनेसे उसको ब्रह्मकी कल्पना आती है तथा उसका गर्व हरण होता है, अर्थात् वह मन शांत होकर अत्यंत स्थिर होता है । चित्तवृत्तिका इस प्रकार लय होनेसे स्वस्वरूपका ज्ञान यत्किंचित् होजाता है । इस प्रकार अन्य इंद्रियोंकी अपेक्षा मनकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है । अब इसका फल देखिये—

उक्त संबंधका फल ।

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवाऽन्यान्देवान्
यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येन-
त्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥ २७ ॥ (२)
तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान् स ह्येन-

नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार
ब्रह्मेति ॥ २८ ॥ (३)

(२७)

तस्मात् वै एते देवा अन्यान् देवान् अतितराम् इव।	इसलिये ये देव अन्य देवोंसे अधिक श्रेष्ठ बने।
यत् अग्निः वायुः इंद्रः ते हि एनत् नेदिष्ठं पस्पृशुः।	क्योंकि अग्नि, वायु, इंद्र येही (देव) इस समीप स्थित (ब्रह्म) को देख सके।
ते हि एनत् ब्रह्म इति प्रथमः विदांचकार।	वे ही इसको 'यह ब्रह्म है' ऐसा पहिले जान गये।

(२८)

तस्मात् वै इंद्रः अन्यान् देवान् अतितरां इव। स हि एनत् नेदिष्ठं पस्पर्श। स हि एनत् ब्रह्म इति प्रथमः विदांचकार।	इसलिये ही इंद्र अन्य देवोंसे अधिक श्रेष्ठ बना। क्योंकि वह इस समीप स्थित (ब्रह्म) को देख सका। और वही इसको 'यह ब्रह्म है' ऐसा पहिले जान गया!

थोडासा विचार—अग्नि, वायु, इंद्र ये तीन देव क्रमशः वाणी, प्राण और मनके रूपसे शरीरमें अवतार लेकर कार्य कर रहे हैं। इसलिये जो बात बाहिर होती है वही शरीरमें बन जाती है। वाणी, प्राण और मन ये तीन देव शरीरमेंभी ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेका यत्न करते हैं। वाग्देवी अपनी पराकाष्ठा कर रही है और अनेक प्रकारसे आत्मस्वरूपका वर्णन करनेका यत्न कर रही है। ब्रह्म ज्ञानके सब शास्त्र इस वाग्देवीके प्रयत्न के ही फल हैं। अध्यात्मशास्त्रमें उपनिषद् और वेदमंत्र सबसे श्रेष्ठ ग्रंथ हैं। परंतु जैसा "मिश्री" शब्दसे ही केवल मीठास की कल्पना नहीं आती, तद्वत् ही ब्रह्मवर्णनसे ब्रह्मकी ठीक ठीक कल्पना नहीं होती। परंतु शब्दोंसे प्राप्त हुआ ज्ञानभी कोई कम योग्यता नहीं रखता। इसी दृष्टिसे इन शाब्दिक वर्णनोंका महत्व है। निःसंदेह वेदमंत्र और उपनिषदोंके वर्णन भक्तको आत्माकी ओर लेजा रहे हैं। शब्दज्ञानके पश्चात् प्राण आता है और कहता है कि मैं तुमको ब्रह्म दिखाता हूं। प्राणायामादि विद्यासे बडी

उच्च स्थिति होती है, परंतु समाधिके पूर्वही प्राण स्तब्ध होने लगता है, क्योंकि उसकी आगे गति नहीं है। प्राणके पश्चात् मन प्रयत्न करता है परंतु वह भी आगे कुंठित हो जाता है। तथापि ये देव अन्योंकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हैं। कान, जिह्वा, त्वचा आदि इंद्रिय ब्रह्मकी ओर जानेका प्रयत्नभी नहीं करते। इसलिये ये देव उतने श्रेष्ठ नहीं जितने वाणी प्राण मन हैं। मन इसलिये सबसे श्रेष्ठ है कि वह शक्तिका चिंतन करता हुआ ब्रह्मविषयक कल्पना कुछ न कुछ प्राप्त कर सकता है। इसप्रकार यद्यपि ब्रह्म अज्ञेय है तथापि उसका ज्ञान प्राप्त करनेका अल्पस्वल्प प्रयत्न होनेपरभी योग्यता बढ जाती है। इसलिये इस ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेका जो जो प्रयत्न करेगा वह निःसंदेह श्रेष्ठ बनेगा। अब ब्रह्मका संदेश सुनिये।

ब्रह्मका संदेश।

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इती-
न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥ २९ ॥ (४)
अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चै-
तदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥ ३० ॥ (५)
तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं ॥ स य
एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि सं वांछन्ति ॥३१॥ (६)

(२९)

तस्य एष आदेशः।	उसका यह संदेश है।
यद् एतत् विद्युतः व्यद्युतत् आ इति। न्यमीमिषद् आ।	जो यह बिजुलीकी चमकाहट है अथवा जो आंखोंका खुलना है।
इति अधिदैवतम्।	यह देवताओंमें रूप है।

(३०)

अथ अध्यात्मम्।	अब आत्मामें देखिये—
यत् एतत् मनः गच्छति इव।	जो यह मन चंचलसा है।
अनेन च एतत् उप स्मरति।	जिससे इसका स्मरण करता है।
अभीक्ष्णं संकल्पः।...........	और वारंवार संकल्प होता है।

(३१)

तत् ह तद्वनं नाम।	वह(ब्रह्म)निश्चयसे(वनं) सबका वंद-नीय अर्थात् उपास्य प्रसिद्धही है।
तद्वनं इति उपासितव्यम्। ...	इसलिये (वनं) उपास्य समझकर उसकी उपासना करनी चाहिये।
स य एतत् एवं वेद, एनं सर्वाणि ह भूतानि अभि संवांछति।	जो यह इस प्रकार जानता है, उसको सब प्राणिमात्र चाहते हैं।

थोडासा विचार–ब्रह्मके स्वरूपकी कल्पना करनेके लिये आप जगत्में विजुलीकी चमकाहट देखिये। बादलोंकी घन अंधकारकी रात्रीमें विजुली चमकनेसे जो प्रभा होती है, और क्षणमात्र जो अद्भुत शक्तिका ज्ञान होता है; तथा शरीरमें आंखोंके खुलनेसे जो आंतरिक शक्तिका प्रभाव व्यक्त होता है, वह बता रहा है कि इस जगत्में तथा शरीरमें एक अद्भुत शक्ति कार्य कर रही है। इन बातोंका विचार करने से ब्रह्मशक्तिकी कल्पना होसकती है।

व्यक्तिमें भी जो विलक्षण चंचल मन है, जो हमेशा चलरहा है, जो स्मरण करता है और संकल्प भी करता है, उसका विचार करनेसे भी आत्मशक्तिकी कल्पना आसकती है।

जो जगत्में विद्युत् है वही शरीरमें मन है। विद्युत्में तेजस्विता और चंचलता है। वे दोनों गुण मनमें हैं। जैसी विजुली स्थिर रहना कठिन है उसी प्रकार मनकी स्थिरता संपादन करनाभी कठिन है। यहां 'मन' शब्दसे 'मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार' लेना उचित है।

इनका संचालक जो शरीरमें आत्मा और जगत्में परमात्मा है, उसका ज्ञान क्रमशः विद्युत् और मनकी शक्तियोंका विचार करनेसे कुछ न कुछ होता है। कमसे कम इतनी तो कल्पना होती है कि, वह अद्भुत शक्तिसे युक्त है और वह (तद्वनं) सब जगत्का वंदनीय उपास्य देव है। इस-लिये उसकी उपासनाभी उसको "एकमात्र वंदनीय उपास्यदेव" समझकर करना उचित है।

जो इसप्रकार उपासना करता है, वह सबका मित्र बनता है, और सब उसके मित्र होते हैं, अर्थात् उसके उपासकभी सबको वंदनीय बनते हैं। इतनी उसके ज्ञानकी श्रेष्ठता है।

ब्रह्मज्ञानका आधार ।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्
ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ३२ ॥ (७)
तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा
वेदाः सर्वांगानि सत्यमायतनम् ॥ ३३ ॥ (८)
यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते
स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ३४ ॥ (९)

इति चतुर्थः खंडः ।

सहनाववतु०० ॥ आप्यायंतु०० ॥ शांतिः ३ ॥
इति सामवेदीय तलवकारोपनिषद्
समाप्ता ॥

(३२)

भोः उपनिषदं ब्रूहि इति । ...	आचार्यजी ! उपनिषद्का उपदेश कीजिये, ऐसा (पूछाथा इसलिये)–
ते उपनिषद् उक्ता ।	तुझे उपनिषद्का उपदेश किया ।
ते ब्राह्मीं वाव उपनिषदं अब्रूम इति ।	तुझे ब्रह्मज्ञानमय उपनिषद्का कथन किया है ।

(३३)

तस्यै तपः दमः कर्म इति प्रतिष्ठा । वेदाः सर्वांगानि । सत्यं आयतनम् ।	उस उपनिषद्के लिये तप दम और कर्म का ही आधार है। और वेद ही उसके सब अंग हैं। तथा सत्य ही उसका स्थान है।

(३४)

यः वै एतां एवं वेद । पाप्मानं अपहत्य, अनंते ज्येये स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठति ।	जो इस (विद्या)को इसप्रकार जानता है । वह सब पापोंको दूर कर, अनंत श्रेष्ठ प्राप्तव्य स्वर्ग लोकमें निवास करता है ।

थोडासा विचार— यह ब्रह्मज्ञानकी उपनिषद् है। इसका विचार करनेसे ब्रह्मकी कल्पना होती है । इस ब्रह्मज्ञानकी स्थिति तप, दम और कर्म पर है । धर्माचरणके कष्ट सहन करना तप है, सब प्रकारका संयम दम है और पुरुषार्थ करना कर्म है; इन पर यह विद्या रहती है । अर्थात् इस ब्रह्मविद्याके साथ इनका विरोध नहीं है। इस ब्रह्मविद्याके संपूर्ण अंग वेदके मंत्रही हैं और सत्यकी निष्ठाही इस विद्याका वसतिस्थान है । जो इस विद्याको जानता है वह अनंत और श्रेष्ठ स्वर्गमें पहुंचकर वहांही निवास करता है । स्वर्गलोक आनंदपूर्ण लोक है । इसलिये वहां उसको परम आनंद प्राप्त होता है और किसी प्रकारका प्रतिबंध न रहनेके कारण वह पूर्ण स्वतंत्र और प्रतिबंधरहित होनेसे सदा आनंदमय स्थितिमेंही रहता है ।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

ब्रह्मज्ञानका फल ।

"अमृतसे परिपूर्ण ब्रह्मनगरीको जो जानता है, उसके लिये ब्रह्म और इतर देव चक्षु प्राण और प्रजा देते हैं ।"

अथर्व. १०।२।२९

ॐ

अथर्व-वेदीय

केन सूक्त ।

(अथर्व० १०।२)

अथर्व-वेदीय-केन-सूक्तम् ।

(अथर्व० १०।२)

(१) स्थूल शरीरके अवयवोंके संबंधमें प्रश्न ।

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ ॥ केनांगुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लंखौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥ १ ॥ कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य ॥ जंघे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः संधी क उ तच्चिकेत ॥ २ ॥ चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबंधम् ॥ श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिंधं सुदृढं बभूव ॥ ३ ॥ कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ॥ कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कंधान् कति पृष्टीरचिन्वन् ॥ ४ ॥ को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति ॥ अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिंधे अध्या दधौ ॥ ५ ॥

(१)

(१) पूरुषस्य पार्ष्णी केन आभृते?	मनुष्य की एडियां किसने बनाईं ?
(२) केन मांसं संभृतं ?	किसने मांस भर दिया ?
(३) केन गुल्फौ ?	किसने टखने बनाये ?
(४) केन पेशनीः अंगुलीः ? ...	किसने सुंदर अंगुलियां बनाईं ?
(५) केन खानि ?	किसने इंद्रियोंके सुराख बनाये ?
(६) केन उच्छ्लंखौ ?	किसने पांवके तलवे जोड दिये ?
(७) मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ? ...	बीचमें कौन आधार देता है ?

(२)

(८) नु कस्मात् अधरौ गुल्फौ अकृण्वन् ?	भला किससे नीचेके टकने बनाये हैं ? और—
(९) पूरुषस्य उत्तरौ अष्ठीवन्तौ ?	मनुष्यके ऊपरके घुटने ?
(१०) जंघे निर्ऋत्य क स्वित् न्यदधुः ?	जांघें अलग अलग बनाकर कहां भला जमा दीं हैं ?
(११) जानुनोः संधी क उ तत् चिकेत ?	जानुओंके संधीका किसने भला ढांचा बनाया ?

(३)

(१२)चतुष्टयं संहितान्तं शिथिरं कबंधं जानुभ्यां ऊर्ध्वं युज्यते !	चार प्रकारसे अंतमें जोडाहुआ शिथिल (ढीला) धड (पेट) घुटनोंके ऊपर जोडा गया है !
(१३) श्रोणी, यत् ऊरू, क उ तत् जजान ? याभ्यां कुसिंधं सुदृढं बभूव !	कुल्हे, और जांघे, किसने भला यह बनाया है ? जिससे धड बडा दृढ हुआ है !

(४)

(१४) ते कति कतमे देवाः आसन् ये पूरुषस्य उरः ग्रीवाः चिक्युः ?	वे कितने और कौनसे देव थे, जिन्होनें मनुष्यकी छाति और, गलेको एकत्र किया ?
(१५) कति स्तनौ व्यदधुः ? ...	कितनोंनें स्तनोंको बनाया ?
(१६) कः कफोडौ ?	किसने कोहनियां बनाईं ?
(१७) कति स्कंधान् ?	कितनोंनें कंधोंको बनाया ?
(१८) कति पृष्टीः अचिन्वन् ?	कितनोंनें पसलियोंको जोड दिया ?

(५)

(१९) वीर्यं करवात् इति, अस्य बाहू कः समभरत्?	यह पराक्रम करे इसलिये, इसके बाहू किसने भर दिये?
(२०) कः देवः अस्य तद् अंसौ कुसिंधे अध्यादधौ?	किस देवने इसके उन कंधोंको धडमें धर दिया है?

थोडासा विचार—चतुर्थ मंत्रमें "कति देवाः" देव कितने हैं, जो मनुष्यके अवयव बनानेवाले हैं? यह प्रश्न आता है। इससे पूर्व तथा उत्तर मंत्रोंमेंभी "देव" शब्दका अनुसंधान करके अर्थ करना चाहिये। "मनुष्यकी एडियां किस देवने बनायीं हैं?" इत्यादी प्रकार सर्वत्र अर्थ समझना उचित है। मनुष्यका शरीर बनानेवाले देव एक हैं वा अनेक हैं और किस देवनें कौनसा भाग, अवयव तथा इंद्रिय बनाया है? यह प्रश्नोंका तात्पर्य है। इसी प्रकार आगेभी समझना चाहिये।

(२) ज्ञानेंद्रियों और मानसिक भावनाओंके संबंधमें प्रश्न।

कः सप्त खानि वितंतर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् ॥ येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यंति यामम् ॥ ६ ॥ हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् ॥ स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥ मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ॥ चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥ प्रियाऽप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाध-तन्द्र्यः ॥ आनंदानुग्रो नंदांश्च कस्माद्वहति पूरुषः ॥९॥ आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः ॥ राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥

(६)

(२१) इमौ कर्णौ, नासिके, चक्षणी, मुखं, सप्त खानि शीर्षणि कः वि ततर्द ?	ये दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख मिलकर सात सुराख सिर में किसनें खोदे हैं ?
येषां विजयस्य मह्मनि चतुष्पादः द्विपदः यामं पुरुत्रा यंति।	जिनके विजयकी महिमामें चतुष्पाद और द्विपाद अपना मार्ग बहुत प्रकार आक्रमण करते हैं।

(७)

हि पुरूचीं जिह्वां हन्वोः अद-धात्।—	बहुत चलनेवाली जीभको दोनों जबडों के बीचमें रखदिया है—
अध महीं वाचं अधि शिश्राय !	और प्रभावशाली वाणीको उसमें आश्रित किया है !
अपः वसानः सः भुवनेषु अन्तः आ वरीवर्ति !	कर्मोंको धारण करनेवाला वह सब भुवनोंके अंदर गुप्त रहा है !
(२२) क उ तत् चिकेत ?	कौन भला उसको जानता है ?

(८)

(२३) अस्य पूरुषस्य मस्तिष्कं, ललाटं, ककाटिकां, कपालं, हन्वोः चित्यं, यः यतमः प्रथमः चित्वा, दिवं रुरोह, स देवः कतमः ?	इस मनुष्यका मस्तिष्क, माथा, सिरका पिछला भाग, कपाल, और जावडोंका संचय, आदिको जिस पहिले देवने बनाया, और जो द्युलोकमें चढ गया; वह देव कौनसा है ?

(९)

(२४) बहुला प्रियाऽप्रियाणि, स्वप्नं, संबाध-तन्द्र्यः, आनं-दान्, नंदान् च, उग्रः पुरुषः कस्माद् वहति ?	बहुत प्रिय और अप्रिय बातों, निद्रा, बाधाओं और थकावटों, आनंदों, और हर्षोंको प्रचंड पुरुष किस कारण पाता है ?

(१०)

(२५) आर्तिः, अवर्तिः, निर्ऋतिः, अमतिः पुरुषे कुतः नु ?	पीडा, दरिद्रता, बीमारी, कुमति मनुष्यमें कहांसे होती है ?
(२६) राद्धिः, समृद्धिः अ-वि-ऋद्धिः, मतिः, उदितयः कुतः?	पूर्णता, समृद्धि, अ-हीनता, बुद्धि, और उदयकी प्रवृत्ति कहांसे होती है ?

थोडासा विचार-मंत्र छः में सात इंद्रियोंके नाम कहे हैं। दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख। ये सात ज्ञानके इंद्रिय हैं । वेदमें अन्यत्र इनको ही (१) सप्त ऋषि, (२) सप्त अश्व, (३) सप्त किरण, (४) सप्त अग्नि, (५) सप्त जिह्वा, (६) सप्त प्राण आदि नामों से वर्णन किया है। उस उस स्थानमें यही अर्थ जानकर मंत्रका अर्थ करना चाहिये। गुदा और मूत्रद्वारके और दो सुराख हैं। सब मिलकर नौ सुराख होते हैं। ये ही इस शरीररूपी नगरीके नौ महाद्वार हैं। मुख पूर्वद्वार है, गुदा पश्चिमद्वार है, अन्यद्वार इनसे छोटे हैं। (इसी सूक्तका मंत्र ३१ देखिये)

यद्यपि "पूरुष" शब्द (पुर्-वस) उक्त नगरीमें वसनेवालेका बोध कराता है, इसलिये सर्व साधारण प्राणिमात्रका वाचक होता है, तथापि यहांका वर्णन विशेषतः मनुष्यके शरीरकाही समझना उचित है। "चतुष्पाद् और द्विपाद्" शब्दोंसे संपूर्ण प्राणिमात्रका बोध मंत्र ६ में लेना आवश्यक ही है, इसप्रकार अन्य मंत्रोंमें लेनेसे कोई हानी नहीं है, तथापि मंत्र ७ में जो वाणीका वर्णन है वह मनुष्यकी वाणीका ही है, क्योंकि सब प्राणियोंमें यह वाक्शक्ति वैसी नहीं है, जैसी मनुष्यप्राणीमें पूर्ण विकसित होगई है। मंत्र ९,१० में "मति, अमति" आदि शब्द मनुष्यका ही वर्णन कर रहे हैं। इसप्रकार यद्यपि मुख्यतः सब वर्णन मनुष्यका है, तथापि प्रसंगविशेषमें जो मंत्र सामान्य अर्थके बोधक हैं, वे सर्व सामान्य प्राणिजातीके विषयमें समझनेमें कोई हानी नहीं है।

मंत्र आठमें "स्वर्ग पर चढनेवाला देव कौनसा है ?" यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह मंत्र जीवात्माका मार्ग बता रहा है। इस

प्रश्नका दूसरा एक अनुक्त भाग है वह यह है कि, "नरकमें कौन गिर जाता है?" तात्पर्य जीव स्वर्गमें क्यों जाता है? और नरकमें क्यों गिरता है?

मंत्र ९ और १० में अच्छे और बुरे दोनों पैलुओंके प्रश्न हैं। (१) अप्रिय, स्वप्न, संबाध, तंद्री, आर्ति, अवर्ति, निर्ऋति, अमति ये शब्द हीन अवस्था बता रहे हैं (२) और प्रिय, आनंद, नंद, राद्धि, समृद्धि, अभ्यृद्धि, मति, उदिति ये शब्द उच्च अवस्था बता रहे हैं। दोनों स्थानोंमें आठ आठ शब्द हैं और उनका परस्पर संबंध भी है। पाठक विचार करनेपर उस संबंध को जान सकते हैं। तथा—

(३) रुधिर, प्राण, चारित्र्य, अमरत्व आदिके विषयमें प्रश्न।

को अ॑स्मि॒न्नापो॒ व्य॑दधाद् विषू॒वृत॑ः पुरू॒वृत॑ः सिंधु॒सृत्या॑य ज्ञा॒ताः ॥ ती॒व्रा अ॑रु॒णा लोहि॑नीस्ताम्रधू॒म्रा ऊ॒र्ध्वा अवा॑ची॒ पुरु॑षे ति॒रश्ची॑ः ॥ ११ ॥ को अ॑स्मि॒न्रू॒पम॑दधा॒त् को म॒ह्यानं॑ च॒ नाम॑ च ॥ गा॒तुं को अ॑स्मि॒न् कः के॒तुं कश्च॒रित्रा॑णि॒ पूरु॑षे ॥ १२ ॥ को अ॑स्मिन् प्रा॒णम॑वयु॒त् को अ॑पा॒नं व्या॒नमु॑ ॥ स॒मा॒नम॑स्मि॒न् को दे॒वो ऽधि॑ शिश्राय॒ पूरु॑षे ॥ १३ ॥ को अ॑स्मिन्यु॒ज्ञम॑दधा॒देको॑ दे॒वो-ऽधि॒ पूरु॑षे ॥ को अ॑स्मिन्त्स॒त्यं कोऽनृ॒तं कुतो॑ मृ॒त्युः कु॒तोऽमृत॑म् ॥ १४ ॥ को अ॑स्मै॒ वास॒ः पर्य॑दधा॒त् को अ॒स्यायु॑रकल्पयत् ॥ ब॒लं को अ॑स्मै॒ प्राय॑च्छ॒त् को अ॑स्याकल्पयज्ज॒वम् ॥ १५ ॥

(११)

(२७) अस्मिन् पुरुषे वि-सु-वृतः, पुरु-वृतः, सिंधु-सृत्याय जाताः, अरुणाः, लोहिनीः, ताम्रधूम्राः, ऊर्ध्वाः, अवाचीः, तिरश्चीः, तीव्राः अपः कः व्यदधात् ? ……	इस मनुष्यमें विशेष घूमनेवाले, सर्वत्र घूमनेवाले, नदीके समान वहनेकेलिये बने हुये, लाल रंगवाले, लोहेको साथ ले जानेवाले, तांबेके धूयेंके समान रंगवाले, ऊपर, नीचे, और तिरछे, वेगसे चलनेवाले जलप्रवाह (अर्थात् रक्तके प्रवाह) किसने बनाये हैं?

(१२)

(२८) अस्मिन् रूपं कः अदधात्?	इसमें रूप किसनें रखा है ?
(२९) महानं च नाम च कः अदधात् ? ………………	महिमा और नाम (यश) किसनें रखा है ?
(३०) अस्मिन् गातुं कः? ……	इसमें गति किसने रखी है ?
(३१) कः केतुं ? …………	किसने ज्ञान रखा है ? और
(३२) पूरुषे चरित्राणि कः अदधात् ?	मनुष्यमें चरित्र किसने रखे हैं ?

(१३)

(३३) अस्मिन् कः प्राणं अवयत्?	इसमें किसने प्राण चलाया है ?
(३४) कः अपानं व्यानं उ ? …	किसनें अपान और व्यानको लगाया है
(३५) अस्मिन् पूरुषे कः देवः समानं अधि शिश्राय ? …	इस पुरुषमें किस देवनें समानको ठहराया है ?

(१४)

(३६) कः एकः देवः अस्मिन् पूरुषे यज्ञं अधि अदधत् ?	किस एक देवने इस पुरुषमें यज्ञ रख दिया है?
(३७) कः अस्मिन् सत्यं ? …	कौन इसमें सत्य रखता है ?
(३८) कः अन्-ऋतम् ? ……	कौन असत्य रखता है ?
(३९) कुतः मृत्युः ? ………	कहांसे मृत्यु होता है ? और—
(४०) कुतः अमृतम् ? ………	कहांसे अमरपन मिलता है !

(१५)

(४१) अस्मै वासः कः परि–अद्-धात् ?	इसकेलिये कपडे किसने पहनाये हैं ? (कपडे=शरीर)
(४२) अस्य आयुः कः अकल्प-यत् ?	इसकी आयु किसने संकल्पित की ?
(४३) अस्मै बलं कः प्रायच्छत् ?	इसको बल किसने दिया ? और—
(४४) अस्य जवं कः अकल्पयत् ?	इसका वेग किसने निश्चित किया है?

थोडासा विचार—मंत्र ११ में शरीरमें रक्तका प्रवाह किसनें संचारित किया है ? यह प्रश्न है । प्रायः लोग समझते हैं कि शरीरमें रुधिराभिसरण का तत्व युरोपके डाक्टरोंनें निकाला है । परंतु इस अथर्ववेदके मंत्रोंमें वह स्पष्ट ही है । रुधिरका नाम इस मंत्रमें "लोहिनीः आपः" है, इसका अर्थ "(लोह–नीः) लोहेको अपने साथ ले जानेवाला (आपः) जल" ऐसा होता है । अर्थात् रुधिरमें जल है और उसके साथ लोहाभी है । लोहा होनेके कारण उसका यह लाल रंग है । लोह जिसमें है वही "लोहित" (लोह+इत) होता है । दो प्रकारका रक्त होता है एक "अरुणाः आपः" अर्थात् लाल रंगवाला और दूसरा "ताम्र–धूम्राः आपः" तांबेके जंगके समान मलिन रंगवाला । पहिला शुद्ध रक्त है जो हृदयसे बाहिर जाता है और सब शरीरमें ऊपर नीचे और चारों ओर व्यापता है । दूसरा मलिन रंगका रक्त है, जो शरीरमें भ्रमण करके और वहांकी शुद्धता करनेके पश्चात् हृदयकी ओर वापस आता है । इस प्रकारकी यह आश्चर्यकारक रुधिराभिसरण की योजना किसने की है, यह प्रश्न यहां किया है । किस देवताका यह कार्य है ? पाठको सोचिये ।

मंत्र १२ में प्रश्न पूछा है कि, "मनुष्यमें सौंदर्य, महत्व, यश, प्रयत्न, शक्ति, ज्ञान और चारित्र्य किस देवताके प्रभावसे दिखाई देता है ?" इस मंत्रके "चरित्र" शब्दका अर्थ कई लोग "पांव" ऐसा समझते हैं, परंतु इस मंत्रके पूर्वापर संबंधसे यह अर्थ ठीक नहीं दिखाई देता । क्यों कि स्थूल पांवका वर्णन पहिले मंत्रमें होचुका है । यहां सूक्ष्म गुणधर्मोंका वर्णन चला है । तथा महिमा, यश, ज्ञान आदिके साथ चारित्र्य (character) ही अर्थ ठीक दिखाई देता है ।

मंत्र १५ में "वासः" शब्द "कपडों" का वाचक है । यहां जीवात्मा के ऊपर जो शरीररूपी कपडे हैं, उनका संबंध है, धोती आदिका नहीं । श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि—"जिसप्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड-कर नये ग्रहण करता है उसीप्रकार शरीरका स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर नये शरीर धारण करता है (गीता.२।२२)" इसमें शरीर की तुलना कपडोंके साथ की है । इस गीताके श्लोकमें "वासांसि" अर्थात् "वासः" यही शब्द है, इसलिये गीताकी यह कल्पना इस अथर्ववेदके मंत्रसे ली हुई है । कई विद्वान् यहां इस मंत्रमें "वासः" का अर्थ "निवास" करते हैं, परंतु "परि- अदधात् (पहनाया)" यह क्रिया बता रही है कि यहां कपडोंका पहनाना अभीष्ट है । इस आत्मापर शरीररूपी कपडे किसने पहनाये ? यह इस प्रश्नका सीधा तात्पर्य है ।

(४) मन, वाणी, कर्म, मेधा, श्रद्धा तथा बाह्य जगत् के विषयमें प्रश्न ।

(समष्टि व्यष्टिका संबंध)

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे ॥ उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥ १६ ॥ को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरातायतामिति ॥ मेधां को अस्मिन्न-ध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥ १७ ॥ केनेमां भूमि-मौर्णोत् केन पर्यभवद्दिवम् ॥ केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥ १८ ॥ केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम् ॥ केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन्निहितं मनः ॥ १९ ॥

(१६)

(४५) केन आपः अन्वतनुत ?	किसने जल फैलाया ?
(४६) केन अहः रुचे अकरोद् ?	किसने दिन प्रकाशकेलिये बनाया ?
(४७) केन उषसं अनु ऐंद्ध ?...	किसने उषाको चमकाया ?
(४८) केन सायंभवं ददे ? ...	किसने सायंकाल दिया है ?

(१७)

(४९) तन्तुः आ तायतां इति, अस्मिन् रेतः कः नि–अद्-धात् ?....................	प्रजातंतु चलता रहे इसलिये, इसमें वीर्य किसने रखदिया है ?
(५०) अस्मिन् मेधां कः अधि-औहत् ?	इसमें बुद्धि किसनें लगा दी है ?
(५१) कः वाणं ?	किसनें वाणी रखी है ?
(५२) कः नृतः दधौ ?.........	किसने नृत्यका भाव रखा है ?

(१८)

(५३) केन इमां भूमिं और्णोत् ?	किसने इस भूमिको आच्छादित किया है ?
(५४) केन दिवं पर्यभवत् ? ...	किसने द्युलोक को घेरा है ?
(५५) केन मह्ना पर्वतान् अभि ?	किसने महत्वसे पहाडोंको ढंका है ?
(५६) पूरुषः केन कर्माणि ?	पुरुष किससे कर्मोंको करता है ?

(१९)

(५७) पर्जन्यं केन अन्वेति ?...	पर्जन्यको किससे प्राप्त करता है ?
(५८) विचक्षणं सोमं केन ? ...	विलक्षण सोमको किससे पाता है ?
(५९) केन यज्ञं च श्रद्धां च ?...	किससे यज्ञ और श्रद्धाको प्राप्त करता है ?
(६०) अस्मिन् मनः केन निहितं ?	इसमें मन किसने रखा है ?

थोडासा विचार—मंत्र १५ तक व्यक्तिके शरीरके संबंधमें विविध प्रश्न हो रहेथे, परंतु अब मंत्र १६ से जगत् के विषयमें प्रश्न पूछे जा रहे हैं, इसके आगे मंत्र २१ और २२ में समाज और राष्ट्रके विषयमें भी प्रश्न आ जांयगे। तात्पर्य इससे वेदकी शैली का पता लगता है, (१) अध्यात्ममें व्यक्तिका संबंध, (२) अधिभूतमें प्राणिसमष्टिका अर्थात् समाजका संबंध,

और (३) अधिदैवतमें संपूर्ण जगत्का संबंध है। वेद व्यक्तिसे प्रारंभ करता है और चलते चलते संपूर्ण जगत्का ज्ञान यथाक्रम देता है। यही वेदकी शैली है। जो इसको नहीं समझते, उनके ध्यानमें उक्त प्रश्नोंकी संगति नहीं आती। इस लिये इस शैलीको समझना चाहिये।
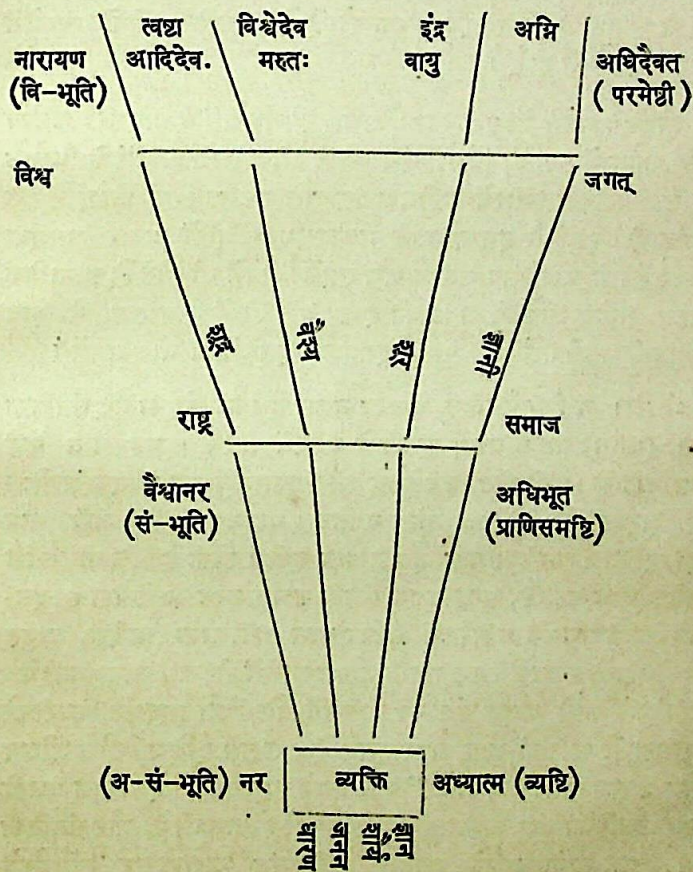
वेद समझता है, कि, जैसा एक अवयव हाथ पांव आदि शरीर के साथ जुडा है, उसीप्रकार एक शरीर समाजके साथ संयुक्त हुआ है और समाज संपूर्ण जगत् के साथ मिला है। "व्यक्ति समाज और जगत्" ये अलग नहीं हो सकते। हाथपांव आदि अवयव जैसे शरीर में हैं, उसी प्रकार व्यक्ति और कुटुंब समाजके साथ लगे हैं और सब प्राणि-योंकी समष्टि संपूर्ण जगत्में संलग्न होगई है। इसलिये तीनों स्थानोंमें नियम एक जैसे ही हैं।

सोलहवे मंत्रमें "आप्, अहः, उषा, सायंभव" ये चार शब्द क्रमशः बाह्य जगत् में "जल, दिन, उषःकाल और सायंकाल" के वाचक हैं, तथा व्यक्तिके शरीरमें "जीवन, जागृति, इच्छा और विश्रांति" के सूचक हैं। इसलिये इस सोलहवे मंत्रका भाव दोनों प्रकार समझना उचित है। ये चार भाव समाज और राष्ट्रके विषयमें भी होते हैं, सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय जागृति, जनताकी इच्छा और लोकोंका आराम, ये भाव सामुदायिक जीवनमें हैं। पाठक इसप्रकार इस मंत्रका भाव समझें।

मंत्र १७ में फिर वैयक्तिक बातका उल्लेख है। प्रजातंतु अर्थात् संततिका तांता (धागा) टूट न जाय, इसलिये शरीरमें वीर्य है। यह बात यहां स्पष्ट कही है। तैत्तिरीय उपनिषद् में "प्रजातंतुं मा व्यवच्छेत्सीः। (तै. १।११।१)" संततिका तांता न तोड। यह उपदेश है। वही भाव यहां सूचित किया है। यहां दूसरी बात सूचित होती है कि वीर्य यौंही खोनेके लिये नहीं है, परंतु उत्तम संतति उत्पन्न करने के लियेही है। इस-लिये कामोपभोगके अतिरेकमें वीर्यका नाश नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उसको सुरक्षित करके उत्तम संतति उत्पन्न करनेमें ही खर्च करना चाहिये। इसीसूक्तमें आगे जाकर मंत्र २९ में कहेंगे कि "जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है उसको ब्रह्म और इतर देव उत्तम इंद्रिय, दीर्घ जीवन और उत्तम संतति देते हैं।" उस मंत्रके अनुसंधानमें इस मंत्रके प्रश्नको देखना चाहिये। वंश अथवा कुलका क्षय नहीं होना चाहिये, और संततिका क्रम चलता रहना चाहिये; इतनाही नहीं परंतु 'उत्तरोत्तर संततिमें शुभगुणों की वृद्धि होनी चाहिये।' इसलिये उक्त सूचना दी है। अज्ञानी

लोक वीर्यका नाश दुर्व्यसनोंमें कर देते हैं, और उससे अपना और कुलका घात करते हैं; परंतु ज्ञानीलोक वीर्यका संरक्षण करते हैं और सुसंतति निर्माण करने द्वारा अपना और कुलका संवर्धन करते हैं। यही धार्मिकों और अधार्मिकों में भेद है।

इसी मंत्र में "वाण" शब्द "वाणी" का वाचक और "नृतः" शब्द "नाट्य" का वाचक है। मनुष्य जिस समय बोलता है उस समय हात पांवसे अंगोंके विक्षेप तथा विशेष प्रकारके आविर्भाव करता है। यही "नृत्" है। भाषण के साथ मनके भाव व्यक्त करनेके लिये अंगोंके विशेष आविर्भाव होने चाहिये, यह आशय यहां स्पष्ट व्यक्त होरहा है।

मंत्र १८ में जगत्के विषयमें प्रश्न है। भूमि, द्युलोक और पर्वत किसने व्यापे हैं ? अर्थात् व्यापक परमात्मा सब जगत्में व्याप्त हो रहा है, यह इसका उत्तर आगे मिलना है। व्यक्तिमें जैसा आत्मा है, वैसा संपूर्ण जगत्में परमात्मा विद्यमान है। पुरुष शब्दसे दोनोंका बोध होता है। व्यक्तिमें जीवात्मा पुरुष है और जगत्में परमात्मा पुरुष है। यह आत्मा कर्म क्यों करता है ? यह प्रश्न इस मंत्रमें हुवा है।

मंत्र १९ में यज्ञ करनेका भाव तथा श्रद्धाका श्रेष्ठ भाव मनुष्य में कैसा आता है, यह प्रश्न है। पाठकभी इसका बहुत विचार करें, क्यों कि इन गुणोंके कारण ही मनुष्यका श्रेष्ठत्व है। ये भाव मनमें रहते हैं, और मनके प्रभावके कारण ही मनुष्य श्रेष्ठ होता है। तथा—

(५) ज्ञान और ज्ञानी।

केन॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ केने॒मं प॑रमे॒ष्ठिन॑म् ॥ केने॒मम॒ग्निं पूरु॑ष॒ः केन॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २० ॥ ब्रह्म॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ ब्रह्मे॒मं प॑रमे॒ष्ठिन॑म् ॥ ब्रह्मे॒मम॒ग्निं पूरु॑षो॒ ब्रह्म॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २१ ॥

(२०)

(६१) केन श्रोत्रियं आप्नोति?	किससे ज्ञानीको प्राप्त करता है?
(६२) केन इमं परमेष्ठिनम्? ...	किससे इस परमात्माको प्राप्त करता है?
(६३) पूरुषः केन इमं अग्निं?...	मनुष्य किससे इस अग्निको प्राप्त करता है?
(६४) केन संवत्सरं ममे? ...	किससे संवत्सर-काल-को मापता है?

(२१)

ब्रह्म श्रोत्रियं आप्नोति।	ज्ञान ज्ञानीको प्राप्त करता है।
ब्रह्म इमं परमेष्ठिनम्।.........	ज्ञान इस परमात्माको प्राप्त करता है।
पुरुषः ब्रह्म इमं अग्निम्।......	मनुष्य ज्ञानसे इस अग्निको प्राप्त करता है?
ब्रह्म संवत्सरं ममे।	ज्ञान ही कालको मापता है।

थोडासा विचार—मंत्र २० में चार प्रश्न हैं और उनका उत्तर मंत्र २१ में दिया है। श्रोत्रियको कैसा प्राप्त किया जाता है? गुरुको किस रीतिसे प्राप्त करना है? इसका उत्तर "ज्ञानसे ही प्राप्त करना चाहिये।" अर्थात् गुरु पहचाननेका ज्ञान शिष्यमें चाहिये। अन्यथा ढोंगी धूर्तके जालमें फंस जाना असंभव नहीं है।

परमात्माको कैसे प्राप्त किया जाता है? इस प्रश्नका उत्तरभी "ज्ञानसे" ही है, ज्ञानसे ही परमात्माका ज्ञान होता है। "परमेष्ठी" शब्दका अर्थ "परम स्थानमें रहनेवाला आत्मा" ऐसा है। परेसे परे जो स्थान है, उसमें जो रहता है, वह परमेष्ठी परमात्मा है। (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण और (४) महाकरण, इससे परे वह है, इसलिये उसको "परमेष्ठी" किंवा "पर-तमे-ष्ठी" परमात्मा कहते हैं। इसका पता ज्ञानसे ही लगता है। सबसे पहिले अपने ज्ञानसे सद्गुरु को प्राप्त करना है, तत्पश्चात् उस सद्गुरुसे दिव्यज्ञान प्राप्त करके परमेष्ठी परमात्माको जानना है।

तीसरा प्रश्न "अग्नि कैसा प्राप्त होता है" यह है, यहां "अग्नि" शब्दसे सामान्य "आग्नेय भाव" लेना उचित है। ज्ञानाग्नि, प्राणाग्नि, आत्माग्नि,

ब्रह्माग्नि आदि जो सांकेतिक अग्नि हैं, उनका यहां बोध लेना चाहिये। क्यों कि गुरुका उपदेश और परमात्मज्ञानके साथ संबंध रखनेवाले तेजके भाव ही यहां अपेक्षित हैं। वे सब गुरुके उपदेशसे प्राप्त होने वाले ज्ञानसे ही प्राप्त होते हैं।

चौथा प्रश्न संवत्सरकी गिनतीके विषयमें है। संवत्सर "वर्ष" का नाम है। इससे "काल" का बोध होता है। इसके अतिरिक्त "सं-वत्सर" का अर्थ ऐसा होता है कि—(सं सम्यक् वसति वासयति वा स सं-वत्सरः) जो उत्तम प्रकार सर्वत्र रहता है और सबको उत्तम रीतिसे वसाता है वह संवत्सर कहलाता है। विष्णुसहस्र नाममें संवत्सरका अर्थ सर्वव्यापक परमात्मा किया है। "सम्यक् निवास" इतना ही अर्थ यहां अपेक्षित है। सम्यक् निवास अर्थात् उत्तम प्रकारसे रहना सहना किससे होता है? यह प्रश्न है। उसका उत्तर "ज्ञानसे ही उत्तम निवास हो सकता है" अर्थात् ज्ञानसे ही मनुष्य अपना वैयक्तिक और सामुदायिक कर्तव्य जानता है, और ज्ञानसे ही उस कर्तव्यका पालन करता है, तात्पर्य व्यक्ति, समाज और जगत्में उत्तम शांतिकी स्थापना उत्तम ज्ञानसे ही होती है। ज्ञान ही सब की सुस्थितिका हेतु है। इस प्रकार इन मंत्रों द्वारा ज्ञानका महत्व वर्णन किया है।

ज्ञान गुण आत्माका होनेसे यहां ब्रह्म शब्दसे आत्माकाभी बोध होता है, और आत्माके ज्ञानसे यह सब होता है, ऐसा भाव व्यक्त होता है। क्यों कि ज्ञान आत्मासे पृथक् नहीं है। इसीलिये ब्रह्म शब्दके ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, पर ब्रह्म आदि अर्थ हैं।

(६) देव और देवजन।

केन॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ केन॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ॥ केने॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं केन॒ सत् क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २२ ॥ ब्रह्म॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ ब्रह्म॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ॥ ब्रह्मे॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं ब्रह्म॒ सत्क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २३ ॥

(२२)

(६५) केन देवान् अनु क्षियति?	किससे देवोंको अनुकूल बनाकर बसाया जाता है?
(६६) केन दैव-जनीः विशः?	किससे दिव्यजन रूप प्रजाको अनुकूल बनाकर बसाया जाता है?
(६७) केन सत् क्षत्रं उच्यते?	किससे उत्तम क्षात्र कहा जाता है?
(६८) केन इदं अन्यत् न-क्षत्रम्?	किससे यह दूसरा न-क्षत्र है ऐसा कहते हैं?

(२३)

ब्रह्म देवान् अनु क्षियति। ...	ज्ञान ही देवोंको अनुकूल बनाकर बसाता है।
ब्रह्म दैव-जनीः विशः। ...	ज्ञान ही दिव्यजन रूप प्रजाको अनुकूल बनाकर बसाता है।
ब्रह्म सत् क्षत्रं उच्यते। ...	ज्ञान ही उत्तम क्षात्र है ऐसा कहा जाता है।
ब्रह्म इदं अन्यत् न-क्षत्रम्। ...	ज्ञान यह दूसरा न-क्षत्र है।

थोडासा विचार—मंत्र २२ में "देव" शब्दके तीन अर्थ हैं-(१) इंद्रियां, (२) ज्ञानी शूर आदि सज्जन, (३) और अग्नि इंद्र आदि देवतायें। ये अर्थ लेकर पहिले प्रश्नका अर्थ करना चाहिये। देवोंको अनुकूल बनाना और उनको उत्तम स्थान देना, यह किससे होता है यह प्रश्न है। इसका निम्न प्रकार तात्पर्य है। (१) अध्यात्मिक भाव=(व्यक्तिके देहमें)= किससे इंद्रियों अवयवों और सब अंगोंको अनुकूल बनाया जाता है? और किससे उनका उत्तम प्रकारसे स्वास्थ्यपूर्वक निवास होता है? इसका उत्तर ज्ञानसे इंद्रियोंको अनुकूल बनाया जाता है और उनका निवास उत्तम स्वास्थ्यपूर्वक होनेकी व्यवस्था की जाती है। (२) आधिभौतिक भाव=(राष्ट्रके देहमें)=राष्ट्रमें देवोंका पंचायतन होता है। एक "ज्ञान-देव" ब्राह्मण होते हैं, दूसरे "बल-देव" क्षत्रिय होते हैं, तीसरे "धन-देव" वैश्य होते हैं, चौथे "कर्म-देव" शूद्र होते हैं, पांचवे "वन-

देव" नगरोंसे बाहिर रहनेवाले होते हैं। इन पांचोंके प्रतिनिधि जिस सभामें होते हैं, उस सभाको "पंचायत" अथवा पंचायतन कहते हैं और उस सभाके सभासदों को "पंच" कहते हैं। ये पांचों प्रकारके देव राष्ट्रपुरुषके शरीरमें अनुकूल बनकर किससे रहते हैं? यह प्रश्नका तात्पर्य है। "ज्ञानसे ही सब जन अनुकूल व्यवहार करते हैं, और ज्ञानसे ही सबका योग्य निवास होता हैं।" यह उक्त प्रश्नका उत्तर है। राष्ट्रमें ज्ञानका प्रचार होनेसे सबका ठीक व्यवहार होता है। इन दोनों मंत्रोंमें "दैव-जनीः विशः" येह शब्द हैं, इनका अर्थ "देवसे जन्मी हुई प्रजा" ऐसा होता है। अर्थात् सब प्रजाजनोंकी उत्पत्तिका हेतु देव है। यह सब संतान देवकी है। तात्पर्य कोईभी अपने आपको नीच न समझे और दूसरेको भी हीन दीन न माने; क्यों कि सब लोग देवतासे उत्पन्न हुये हैं, इसलिये श्रेष्ठ हैं और समान हैं। इनकी उन्नति ज्ञानसे होती है। (३) आधिदैविक भाव=(जगत् में)=अग्नि, विद्युत्, वायु, सूर्य आदि सब देवताओंको अनुकूल बनाना किससे होता है? और निवासकेलिये उनसे सहायता किससे मिलती है। इस प्रश्नका उत्तर भी "ज्ञानसे यह सब होता है," यही है। ज्ञानसेही भूमि, जल, तेज, वायु, सूर्य आदि देवताओंकी अनुकूलता संपादन की जाती है और ज्ञानसेही अपने सुखमय निवासकेलिये उनकी सहायता ली जाती है। अथवा जो ज्ञान स्वरूप परब्रह्म है वही सब करता है। उक्त प्रश्नका तीनों स्थानोंमें अर्थ इसप्रकार होता है। यहां भी "ब्रह्म" शब्दसे ज्ञान, आत्मा, परमात्मा आदि अर्थ माने जा सकते हैं, क्यों कि केवल ज्ञान आत्मासे भिन्न नहीं रहता है।

दूसरे प्रश्नमें "दैव जनीः विशः" अर्थात् दिव्यप्रजा परस्पर अनुकूल बनकर किस रीतिसे सुखपूर्ण निवास करती है, यह भाव है। इसविषयमें पूर्व स्थलमें लिखाही है। इस प्रश्नका उत्तर भी 'ज्ञानसे यह सब होता है,' यही है।

तीसरे प्रश्नमें पूछा है कि "सत् क्ष-त्र" उत्तम क्षात्र किससे होता है? क्षतों अर्थात् दुःखोंसे जो त्राण अर्थात् रक्षण किया जाता है, उसको क्षत्र कहते हैं। दुःख, कष्ट, आपत्ति, हानी, अवनति आदिसे बचाव करनेकी शक्ति किससे प्राप्त होती है, यह प्रश्न है। इसका उत्तर "ज्ञानसे

वह शक्ति आती है" यही है । ज्ञानसे सब कष्ट दूर होते हैं, यह बात जैसी व्यक्तिमें वैसीही समाजमें और राष्ट्रमें बिलकुल सत्य है ।

"दूसरा न-क्षत्र किससे होता है ?" यह चौथा प्रश्न है । यहां "न-क्षत्र" शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त हुआ है । आकाश में जो तारागण हैं उनको "नक्षत्र" कहते हैं, इसलिये कि वे (न क्षरन्ति) अपने स्थानसे पतित नहीं होते । अर्थात् अपने स्थानसे पतित न होनेका भाव जो "न-क्षत्र" शब्दमें है वह यहां अभीष्ट है । यह अर्थ लेनेसे उक्त प्रश्नका तात्पर्य निम्न प्रकार हो जाता है, "किससे यह दूसरा न गिरनेका सद्गुण प्राप्त होता है ?" इसका उत्तर "ज्ञानसे न गिरनेका सद्गुण प्राप्त होता है" यह है । जिसके पास ज्ञान होता है वह अपने स्थानसे कभी गिरता नहीं । यह जैसा एक व्यक्तिमें सत्य है वैसाही समाजमें और राष्ट्रमें भी है । अर्थात् ज्ञानके कारण एक व्यक्तिमें ऐसा विलक्षण सामर्थ्य प्राप्त होता है कि वह व्यक्ति कभी स्वकीय उच्च अवस्थासे गिर नहीं सकती । तथा जिस समाज और राष्ट्रमें ज्ञान भरपूर रहेगा वह समाज भी कभी अवनत नहीं हो सकता ।

इन मंत्रोंमें व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके तत्व उत्तम प्रकारसे कहे हैं । ज्ञानके कारण व्यक्तिके इंद्रिय, राष्ट्रके पांच ही जन उत्तम अवस्थामें रहते हैं, प्रजाओंका अभ्युदय होता है, उनमें दुःख दूर करनेका सामर्थ्य आता है और ज्ञानके कारण वे कभी अपनी श्रेष्ठ अवस्थासे गिरते नहीं । यहां ज्ञान वाचक ब्रह्म शब्द है, यह पूर्वोक्त प्रकारही "ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म" का वाचक है, क्यों कि सत्य ज्ञान इनमें ही रहता है ।

(७) अधिदैवत ।

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता ॥ केनेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २४ ॥ ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता ॥ ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २५ ॥

(२४)

(६९) केन इयं भूमिः विहिता?	किसने यह भूमी विशेष रीतिसे रखी है?
(७०) केन द्यौः उत्तरा हिता?	किसने द्युलोक ऊपर रखा है?
(७१) केन इदं अंतरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक्, व्यचः, च हितम्?	किसने यह अंतरिक्ष ऊपर, तिरछा, और फैला हुआ रखा है?

(२५)

ब्रह्मणा भूमिः विहिता।	ब्रह्मने भूमि विशेष प्रकार रखी है।
ब्रह्म द्यौः उत्तरा हिता।	ब्रह्मने द्युलोक ऊपर रखा है।
ब्रह्म इदं अंतरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक्, व्यचः च हितम्।	ब्रह्मने ही यह अंतरिक्ष ऊपर, तिरछा, और फैला हुआ रखा है।

थोडासा विचार—इस प्रश्नोत्तरमें त्रिलोकीका विषय आगया है, इसका विचार थोडासा सूक्ष्म दृष्टिसे करना चाहिये। भूलोक, अंतरिक्ष लोक और द्युलोक मिलकर त्रिलोकी होती है। यह व्यक्तिमें भी है और जगत् में भी है। देखिये—

लोक	व्यक्तिमें रूप	राष्ट्रमें रूप	जगत्में रूप
भूः	नाभिसे गुदा तकका प्रदेश, पांव	(विशः) जनता प्रजा धनी और कारीगर लोग	पृथ्वी (अग्नि)
भुवः	छाति और हृदय	(क्षत्रं) शूर लोग लोक सभा समिति	अंतरिक्ष (वायु) इंद्र
स्वः स्वर्ग	सिर मस्तिष्क	(ब्रह्म) ज्ञानी लोग मंत्रिमंडल	द्युलोक नक्षोमंडल (सूर्य)

मंत्र २४ में पूछा है कि, पृथिवी, अंतरिक्ष, और द्युलोकोंको अपने अपने स्थानमें किसने रखा है? उत्तरमें निवेदन किया है कि उक्त तीनों लोकोंको ब्रह्मनें अपने अपने स्थानमें रख दिया है। उक्त कोष्टकसे तीनों लोक व्यक्तिमें, राष्ट्रमें और जगत्में कहां रहते हैं, इसका पता लग सकता है। व्यक्तिमें सिर, हृदय और नाभिके निचला भाग ये तीन लोक हैं, इनका धारण आत्मा कर रहा है। शरीरमें अधिष्ठाता जो अमूर्त आत्मा है वह शरीरस्थ इन तीनों केंद्रोंको धारण करता है और वहांका सब कार्य चलाता है। अमूर्त राजशक्ति राष्ट्रीय त्रिलोकीकी सुरक्षितता करती है। तथा अमूर्त व्यापक ब्रह्म जगत्की त्रिलोकीकी धारणा कर रहा है।

इस २४ वे मंत्रके प्रश्नमें पूर्व मंत्रोंमें किये सब ही प्रश्न संगृहीत हो गये हैं। यह बात यहां विशेष रीतिसे ध्यानमें धरना चाहिये कि पहिले दो मंत्रोंमें नाभिके निचले भागोंके विषयमें प्रश्न हैं, मंत्र ३ से ५ तक मध्यभाग और छातिके संबंधके प्रश्न हैं, मंत्र ६ से ८ तक सिरके विषयमें प्रश्न हैं। इस प्रकार ये प्रश्न व्यक्तिकी त्रिलोकी के विषयमें स्थूल शरीरके संबंधमें हैं। मंत्र ९, १० में मनकी शक्ति और भावनाके प्रश्न हैं, मंत्र ११ में सर्व शरीरमें व्यापक रक्तके विषयका प्रश्न है, मंत्र १२ में नाम, रूप, यश, ज्ञान, और चारिञ्यके प्रश्न हैं, मंत्र १३ में प्राणके संबंधके प्रश्न हैं, मंत्र १४ और १५ में जन्म मृत्यु आदिक विषयमें प्रश्न हैं। मंत्र १७ में संतति वीर्य आदिके प्रश्न हैं। ये सब मंत्र व्यक्तिके शरीरमें जो त्रिलोकी है उसके सबंधमें हैं। उक्त मंत्रोंका विचार करनेसे उक्त बात स्पष्ट हो जाती है। इन मंत्रोंके प्रश्नोंका क्रम देखनेसे पता लग जायगा कि वेदने स्थूलसे स्थूल पांवसे प्रारंभ करके कैसे सूक्ष्म आत्मशक्तिके विचार पाठकोंके मनमें उत्तम रीतिसे जमा दीये हैं। जड शरीरके मोटे भागसे प्रारंभ करके चेतन आत्मातक अनायाससे पाठक आगये हैं!! केवल प्रश्न पूछनेसे हि पाठकोंमें इतना अद्भुत ज्ञान उत्पन्न हुआ है। यह खूबी केवल प्रश्न पूछनेकी और प्रश्नोंके क्रमकी है।

चोवीसवे मंत्रमें प्रश्न किये हैं कि, यह त्रिलोकी किसने धारण की है। इसका उत्तर २५ वे मंत्रमें है कि, "ब्रह्मही इस त्रिलोकीका धारण करता है।" अर्थात् शरीरकी त्रिलोकी शरीरके अधिष्ठाता आत्माने धारण की है,

यह "आध्यात्मिक भाव" यहां स्पष्ट होगया है। इस प्रकार पचास प्रश्नोंका उत्तर इस एकही मंत्रनें दिया है

अन्य मंत्रोंसें (मंत्र १६, १८ से २४ तक) जितने प्रश्न पूछे हैं उनके "आधिभौतिक" और "आधिदैविक" ऐसे दो ही विभाग होते हैं, इनका वैय्यक्तिक भाग पूर्व विभागसें आ गया है। इनका उत्तरभी २५ वा मंत्र ही दे रहा है। अर्थात् सबका धारण "ब्रह्म" ही कर रहा है। तात्पर्य संपूर्ण ७१ प्रश्नोंका उत्तर एक ही "ब्रह्म" शब्दसें समाया है। प्रश्नके अनुसार "ब्रह्म" शब्दके अर्थ "ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म" आदि हो सकते हैं। इसका संबंध पूर्व स्थानमें बतायाही है।

व्यक्तिमें और जगत् में जो "प्रेरक" है, उसका "ब्रह्म" शब्दसे इस प्रकार बोध होगया। परंतु यह केवल शब्दकाही बोध है, प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। शब्दसे बोध होनेपर मनमें चिंता उत्पन्न होती है कि, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान किस रीतिसे प्राप्त किया जा सकता है ? हमें शरीरका ज्ञान होता है, और बाह्य जगत्को भी प्रत्यक्ष करते हैं, परंतु उसके अंतर्यामी प्रेरक को नहीं जानते !! उसको जाननेका उपाय निम्न मंत्रमें कहा है—

(८) ब्रह्म प्राप्तिका उपाय ।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ॥ मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥

(२६)

अथर्वा अस्य मूर्धानं, यत् च हृदयं, संसीव्य;	अ-थर्वा अर्थात् निश्चल योगी अपना सिर, और जो हृदय है, उसको आपसमें सीकर;—
पवमानः शीर्षतः अधि, मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः प्रैरयत् ।	प्राण सिरके बीचमें, परंतु मस्तिष्क के ऊपर, प्रेरित करता है ।

थोडासा विचार—इस मंत्रमें अनुष्ठानकी विद्या कही है। यही अनुष्ठान है जो कि, आत्मरूपका दर्शन कराता है। सबसे पहिली बात है

"अथर्वा" बननेकी। "अ–थर्वा" का अर्थ है निश्चल। थर्व का अर्थ है गति अथवा चंचलता। यह सब प्राणियोंमें होती है। शरीर चंचल है, उससे इंद्रियां चंचल हैं, किसी एक स्थानपर नहीं ठहरतीं। उनसे भी मन चंचल है, इस मनकी चंचलताकी तो कोई हदही नहीं है। इसप्रकार जो चंचलता है उसके कारण आत्मशक्तिका आविर्भाव नहीं होता। जब मन, इंद्रियां और शरीर स्थिर होता है, तब आत्माकी शक्ति विकसित होकर प्रकट होती है।

आसनोंके अभ्याससे शरीरकी स्थिरता होती है, और शारीरिक आरोग्य प्राप्त होनेके कारण सुख मिलता है। ध्यानसे इंद्रियोंकी स्थिरता होती है और भक्तिसे मन शांत होता है। इसप्रकार योगी अपनी चंचलताका निरोध करता है। इसलिये इस योगीको "अ–थर्वा" अर्थात् "निश्चल" कहते हैं। यह निश्चलता प्राप्त करना बडेही अभ्यासका कार्य है। सुगमतासे साध्य नहीं होती। सालोंसाल निरंतर और एक निष्ठासे प्रयत्न करनेपर मनुष्य "अ–थर्वा" बन सकता है। इस अथर्वाका जो वेद है वह अथर्व वेद कहलाता है। हरएक मनुष्य योगी नहीं होता, इसलिये हरएकके कामकाभी अथर्ववेद नहीं है। परंतु इतर तीन वेद "सद्बोध–सत्कर्म–सदुपासना" रूप होनेसे सब लोकोंके लिये ही हैं। इसलिये वेदको "त्रयी विद्या" कहते हैं। चतुर्थ "अथर्व वेद" किंवा "ब्रह्मवेद" विशिष्ट अवस्थामें पहुंचनेका प्रयत्न करनेवाले विशेष पुरुषोंके लिये होनेसे उसको "त्रयी" में नहीं गिनते। तात्पर्य इस दृष्टिसे देखने पर भी "अथर्वा" की विशेपता स्पष्ट दिखाई देती है।

इसप्रकार "अ–थर्वा" अर्थात् निश्चल बननेके पश्चात् सिर और हृदयको सीना चाहिये। सीनेका तात्पर्य एक करना अथवा एकही कार्यमें लगाना है। सिर विचार का कार्य करता है, और हृदय भक्ति में तल्लीन होता है। सिर के तर्क जब चलते हैं, तब वहां हृदय की भक्ति नहीं रहती; तथा जब हृदय भक्तिसे परिपूर्ण हो जाता है तब वहां तर्क बंद होजाता है। केवल तर्क बढनेपर नास्तिकता और केवल भक्ति बढने पर अंधविश्वास होना स्वाभाविक है। इसलिये वेदने इस मंत्रमें कहा है कि, सिर और हृदयको सी दो। ऐसा करनेसे सिर अपने तर्क भक्ति के साथ

रहते हुए करेगा और नास्तिक बनेगा नहीं, तथा भक्ति करते करते हृदय अंधा बनने लगेगा, तो सिर उसको ज्ञानके नेत्र देगा। इस प्रकार दोनोंका लाभ है। सिरमें ज्ञान नेत्र है और हृदयकी भक्तिमें बडा बल है। इसलिये दोनोंके एकत्रित होनेसे बडाही लाभ है।

राष्ट्रीयशिक्षा का विचार करनेवालोंको इस मंत्रसे बडाही बोध मिल सकता है। **शिक्षाकी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये की, जिससे पढनेवालोंके सिरकी विचार शक्ति बढे और साथ साथ हृदयकी भक्ति भी बढे।** जिस शिक्षा प्रणालीसे केवल तर्कना शक्ति बढती है, अथवा केवल भक्ति बढती है वह बडी घातक शिक्षा है।

सिर और हृदयको एक मार्गमें लाकर उनको साथ साथ चलानेका जो स्पष्ट उपदेश इस मंत्रमें है, वह किसी अन्य स्थानमें नहीं है। किसी अन्य शास्त्रमें यह बात नहीं है। वेदके ज्ञानकी विशेषता इस मंत्रसे ही सिद्ध होती है। उपासना की सिद्धि इसीसे होती है। पाठक इस मंत्रमें वेदके ज्ञानकी सच्चाई देख सकते हैं।

पहिली अवस्था "अ-थर्वा" बनना है, तत्पश्चात् सिर और हृदय को सीकर एक करना चाहिए। जब दोनों एक ही मार्गसे चलने लगेंगे तब बडी प्रगति होती है। इतनी योग्यता आनेके लिये बडे दृढ अभ्यास की आवश्यकता है। इसके पश्चात् प्राणको सिरके अंदर परंतु मस्तिष्कके परे प्रेरित करना है। सिरमें मस्तिष्कके उच्चतम भागमें ब्रह्मलोक है। इस ब्रह्मलोकमें प्राणके साथ आत्मा जाता है। यह योगसे साध्य अंतिम उच्चतम अवस्था है। यहां प्राण कैसा जाता है? ऐसा प्रश्न यहां पूछा जा सकता है। गुदाके पास मूलाधार स्थान है, वहांसे प्राण पृष्ठवंशके बीचमेंसे ऊपर चढने लगता है। मूलाधार स्वाधिष्ठान आदि आठ चक्र इसी पृष्ठवंश किंवा मेरुदंडके साथ लगे हैं। इनमेंसे होता हुआ, जैसा जैसा अभ्यास होता है वैसा वैसा, प्राण ऊपर चढता है और अंतमें ब्रह्मलोकमें किंवा सिरमें परंतु मस्तिष्कके ऊपर प्राण पहुंचता है। यहां जाकर उस उपासक को ब्रह्म स्वरूपका साक्षात् ज्ञान होता है। तात्पर्य जो सबका प्रेरक ब्रह्म है वह यहां पहुंचनेके पश्चात् अनुभवमें आता है। पूर्व पचीस

मंत्रोंद्वारा जिसका वर्णन हुआ, उसको जाननेका यह मार्ग है। सिरकी तर्कशक्तिके परे ब्रह्मका स्थान है, इसलिये जबतक तर्क चलते रहते हैं तबतक ब्रह्मका अनुभव नहीं होता। परंतु जिस समय तर्कसे परे जाना होता है, उस समय उस तत्वका अनुभव आता है। इस अनुष्ठानका फल अगले चार मंत्रोंमें कहा है—

(९) अथर्वा का सिर।

तद्वा अथर्वणः सिरो देवकोशः समुब्जितः ॥
तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ २७ ॥

(२७)

तद् वा अथर्वणः सिरः समुब्जितः देव-कोशः। ...	वह निश्चयसे योगीका सिर देवोंका सुरक्षित खजाना है।
तत् सिरः प्राणः, अन्नं, अथो मनः अभि रक्षति। ...	उस सिरका रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं।

थोडासा विचार—इस मंत्रमें अथर्वाके सिरकी योग्यता कही है। स्थिर चित्त योगीका नाम "अ-थर्वा" है। इस योगीका सिर देवोंका सुरक्षित भण्डार है। अर्थात् देवोंका जो देवपन है वह इसके सिरमें सुरक्षित होता है। शरीरमें ये सब इंद्रिय-ज्ञान और कर्म इंद्रिय-देव हैं; तथा पृथिवी, आप, तेज, वायु, विद्युत, सूर्य आदि देवोंके अंश जो शरीरमें अन्य स्थानोंमें हैं, वे भी देव हैं। इन सब देवोंका संबंध सिरमें होता है, मानो सब देवताओंकी मुख्य सभा सिरमें होती है। सब देव अपना सत्व सिरमें रखदेते हैं। सब देवोंके सत्वांशसे यह सिर बना है और सिरका यह मस्तिष्कका भाग बडा ही सुरक्षित है। इसकी सुरक्षितता "प्राण अन्न और मन" के कारण होती है। अर्थात् प्राणायामसे, सात्विक अन्नके सेवनसे और मनकी शांतिसे देवोंका उक्त खजाना सुरक्षित रहता है। प्राणायामसे सब दोष जल जाते हैं, सात्विक अन्नसे शुद्ध परमाणुओंका संचय होता है और मनकी शांतिसे समता रहती है। अर्थात् प्राणायाम न करनेसे मस्तक में दोष बीज जैसे के वैसे ही रहते हैं, बुरा अन्न सेवन

करनेसे रोग बीज बढते हैं, और मनकी अशांतिसे पागलपन बढ जाता है । इस कारण देवोंका खजाना नष्ट भ्रष्ट हो जाता है ।

इस मंत्रमें योगीके सिरकी योग्यता बताई है । और आरोग्यकी कुंजी प्रकट की है । (१) विधिपूर्वक प्राणायाम, (२) शुद्ध सात्विक अन्न का सेवन और (३) मनकी परिशुद्ध शांति, ये आरोग्यके मूल कारण हैं । योगसाधन की सिद्धता के लिये तथा बहुत अंशमें पूर्ण स्वास्थके लिये सदा सर्वदा इनकी आवश्यकता है ।

अपना सिर देवोंका कोश बनाने केलिये हरएकको प्रयत्न करना चाहिये । अन्यथा वह राक्षसोंका निवास स्थान बनेगा और फिर कष्टोंकी कोई सीमाही नहीं रहेगी । राक्षस सदा हमला करनेके लिये तत्पर रहते हैं, उनका बलभी बडा होता है । इसलिये सदा तत्परताके साथ दक्षता धारण करके स्वसंरक्षण करना चाहिये । तथा दैवीभावनाका विकास करके राक्षसी भावनाको समूल हटाना चाहिये । ऐसी दैवीभावनाकी स्थिति होनेके पश्चात् जो अनुभव होता है वह निम्न मंत्रमें लिखा है—

(१०) सर्वत्र पुरुष ।

ऊर्ध्वो नु सृष्टा ३ स्तिर्यङ् नु सृष्टा ३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ ३ ॥ पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥

(२८)

पुरुषः ऊर्ध्वः नु सृष्टाः ।	पुरुष ऊपर निश्चयसे फैला है ।
तिर्यङ् नु सृष्टा ।	निश्चयसे तिरछा फैला है । तात्पर्य—
पुरुषः सर्वाः दिशः आबभूव ।	पुरुष सब दिशाओंमें है ।
यः ब्रह्मणः पुरं वेद ।	जो ब्रह्मकी नगरी जानता है ।
यस्याः पुरुष उच्यते ।	जिस नगरीके कारण ही उसको पुरुष कहा जाता है ।

थोडासा विचार—जब मंत्र २६ के अनुसार अनुष्ठान किया जाता है और मंत्र २७ के अनुसार "दैवी-संपत्ति" की सुरक्षा की जाती है,

तब मंत्र २८ का फल अनुभव में आता है। "ऊपर, नीचे, तिरछा सभी स्थानमें यह पुरुष व्यापक है" ऐसा अनुभव आता है। इसके विना कोई स्थान रिक्त नहीं है। परमात्माकी सर्व व्यापकता इस प्रकार ज्ञात होती है। पुरीमें वसनेके कारण (पुरि+वस; पुर्+उस; पुरुषः) आत्माको पुरुष कहते हैं। यह पुरुष जैसा बाहिर है वैसा इस शरीरमें भी है। इसलिये बाहिर ढूंढनेकी अपेक्षा इसको शरीरमें देखना बडा सुगम है। गोपथ ब्राह्मणमें "अथर्वा" शब्दकी व्युत्पत्ति इसी दृष्टिसे निम्नप्रकार की है— "अथ अर्वाक् एनं एतासु अप्सु अन्विच्छ इति॥ गो. १।४॥" (अब इदर ही इसको तूं इस जलमें ढूंढ) तात्पर्य बाहिर ढूंढनेसे यह आत्मा प्राप्त नहीं होगा, अंदर ढूंढनेसे ही प्राप्त होगा। यहां अथर्व वेदका कार्य बताया है—

अथ+(अ)र्वा(क्)=अथर्वा

अपने अंदर आत्माको ढूंढनेकी विद्या जिसने बता दी है वही अथर्ववेद है। सब अथर्ववेद की यही विद्या है। अथर्व वेद अन्य वेदोंसे पृथक् और वह वेदत्रयीसे बाहिर क्यों है, इसका पता यहां लग सकता है। संपूर्ण जनता अपने अंदर आत्माका अनुभव नहीं कर सकती, इसलिये जो विशेष सज्जन योगमार्गमें प्रगति करना चाहते हैं, उनकेलिये तथा जो सिद्ध पुरुष होते हैं उनकेलिये यह वेद है।

जो जहां रहता है उसको वहां देखना चाहिये। चूंकी यह आत्मा पुरिमें रहता है, इसलिये इसको पुरिमें ही ढूंढना चाहिये। इस शरीरको पुरि कहते हैं क्यों कि यह सप्त धातुओंसे तथा अन्यान्य उपयोगी शक्तियोंसे परिपूर्ण है। इस पुरिमें जो वसता है उसको पुरुष कहते हैं। पुरुष किंवा पूरुष ये दोनों शब्द हैं और दोनोंका अर्थ एक ही है।

आगे मंत्र ३१ में इस पुरिका वर्णन आजायगा। पाठक वहां ही पुरिका वर्णन देख सकते हैं। इस ब्रह्मपुरी, ब्रह्मनगरि, अमरावरती, देवनगरी, अयोध्यानगरी आदिको यथावत् जाननेसे जो फल प्राप्त होता है उसको इस मंत्र २८ ने बताया है। ब्रह्मनगरिको जो उत्तम प्रकारसे जानता है उसको सर्वात्म भाव का अनुभव आता है। जो पुरुष अपने आत्मामें

अपने हृदयाकाशमें है वह ऊपर नीचे तिरछा सब दिशाओंमें पूर्णतया व्यापक है। वह किसी स्थानपर नहीं ऐसा एकभी स्थान नही है। यह अनुभव उपासकको यहां होता है। "अपने आपको आत्मामें और आत्माको अपनेमें वह देखने लगता है" (ईश. उ. ६)। जो इस प्रकार देखता है उसको शोक मोह नहीं होते, और उससे कोई अपवित्र कार्यभी नहीं होता।

इस मंत्रमें "सृष्ट" शब्द विशेष अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। (Poured out, connected, abundant, ornamented) फैला हुआ, संबंधित रहा हुआ, विपुल, सुशोभित ये "सृष्ट" शब्दके यहां अर्थ हैं। (१) जिस प्रकार जल झरनेसे बहता हुआ चारों ओर फैलता है, उस प्रकार आत्मा सर्वत्र फैला है, आत्माको सबका मूल "स्रोत" कहते ही हैं। स्रोतसे जलका निकलना और फैलना होता है। इसलिये यह अर्थ यहां है। (२) फैलनेसे उसका सबके साथ संबंध आता है, (३) वह विपुल होनेके कारणही चारों तर्फ फैल रहा है, (४) सबकी शोभा उसी कारण होती है, इसलिये वह सुशोभित भी है। ये "सृष्ट" शब्दके अर्थ सब कोशोंमें हैं, और इस प्रसंगमें बडे योग्य हैं। परंतु इसका विचार न करते हुए कईयोंने "उत्पन्न हुआ" ऐसा प्रसिद्ध अर्थ लेकर इस मंत्रका अर्थ करनेका यत्न किया है। इसका विचार पाठक ही कर सकते हैं।

इस मंत्रमें "सृष्टा—३ः" तथा "वभूवाँ—३" शब्द प्लुत हैं। प्लुत स्वरका उच्चार तीन गुणा लंबा करना चाहिये। प्लुत शब्दका उच्चारण अत्यंत आनंदके समय प्रेमातिशयमें होता है। इसके अन्यभी प्रसंग हैं, परंतु यहां आनंदातिशयके प्रसंगमें इसका उपयोग किया है। ब्रह्मपुरीको जानने से अत्यंत आनंद होता है और परमात्माकी सर्वव्यापकता प्रत्यक्ष अनुभव में आनेसे उस आनंदका पारावार ही क्या कहना है? इस परम आनंदको शब्दोंमें व्यक्त करनेके लिये प्लुत स्वरका प्रयोग इस मंत्रमें हुआ है।

जिस पुरुषको परमात्मसाक्षात्कारका अनुभव उक्त प्रकार आ जाता है, वह आनंदसे नाचने लगता है, वह उस आनंदमें मग्न हो जाता है, वह प्रेमसे ओतप्रोत भर जाता है, वह शोक मोहसे रहित अतएव अत्यंत आनंदमय हो जाता है। अब ब्रह्मज्ञानका और एक फल देखिये—

(११) ब्रह्मज्ञानका फल ।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदाऽमृतेनावृतां पुरम् ॥ तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥

(२९)

यः वै अमृतेन आवृतां तां ब्रह्मणः पुरं वेद । ...	जो निश्चयसे अमृतसे परिपूर्ण उस ब्रह्मकी नगरीको जानता है ।
तस्मै ब्रह्म ब्राह्माः च चक्षुः, प्राणं, प्रजां, च ददुः । ...	उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते आये हैं ।

थोडासा विचार—ब्रह्मनगरीका थोडासा अधिक वर्णन इस मंत्रमें है । "अमृतेन आवृता ब्रह्मणः पुरिः" अर्थात् "अमृतसे आवृत ब्रह्म की नगरी है ।" यहां "अ–मृत" शब्दसे अज, अमर, अजरामर आत्मा लेना उचित है । इस ब्रह्म पुरिमें आत्मा परिपूर्ण है । आत्मा अ–मृत रूप होनेसे जो उसको प्राप्त करता है वह अमर बन जाता है । इसलिये हर-एक को यथाशक्ति इस मार्गमें प्रयत्न करना चाहिये । यह ब्रह्मकी नगरी कहां है, उस स्थानका पता मंत्र ३१ में पाठक देखेंगे ।

ब्रह्म नगरीको यथावत् जाननेसे ब्रह्म और ब्राह्म प्रसन्न होते हैं और उपासक को चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। "ब्रह्म" शब्दसे "आत्मा, परमात्मा, पर ब्रह्म"का बोध होता है, और "ब्राह्माः" शब्दसे "ब्रह्मसे बने हुए इतर देव, अर्थात् अग्नि, वायु, रवि, विद्युत्, इंद्र, वरुण आदि देव बोधित होते हैं ।" ब्रह्मनगरीको जाननेसे ब्रह्मकी प्रसन्नता होती है और संपूर्ण इतर देवोंकी भी प्रसन्नता होती है। प्रसन्न होनेसे ये सब देव और सब देवोंका मूल प्रेरक ब्रह्म इस उपासक को तीन पदार्थों का अर्पण करते हैं । ये तीन पदार्थ "चक्षु, प्राण और प्रजा" नामसे इस मंत्रमें कहे हैं ।

"चक्षु" शब्दसे इंद्रियोंका बोध होता है, सब इंद्रियोंमें चक्षु मुख्य होनेसे, मुख्यका ग्रहण करनेसे गौणोंका स्वयं बोध होता है । "प्राण" शब्दसे आयु का बोध होता है। क्यों कि प्राणही आयु है । "प्रजा" शब्दसे

"अपनी औरस संतति" ली जाती है। तात्पर्य "चक्षु, प्राण और प्रजा" शब्दोंसे क्रमशः (१) संपूर्ण इंद्रियोंका स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) उत्तम संततिका बोध होता है। उपासनासे प्रसन्न हुए ब्रह्म और देव उक्त तीन बातें अर्पण करते हैं। ब्रह्म ज्ञानका यह फल है।

(१) शरीरका उत्तम बल और आरोग्य, (२) अतिदीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजानिर्माण की शक्ति ब्रह्म ज्ञानसे प्राप्त होती है। इनमें मनकी शांति, बुद्धिकी समता और आत्मिक बलकी संपन्नता अंतर्भूत है, यह बात पाठक न भूलें। इनके अतिरिक्त उक्त सिद्धि हो नहीं सकती। मानसिक शांतिके अभावमें, बौद्धिक समता न होनेपर तथा आत्मिक निर्बलता की अवस्थामें, न तो शरीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होनेकी संभावना है और न दीर्घायुष्य तथा सुप्रजानिर्माण की शक्यता है। ये सद्गुण तथा इनके सिवाय अन्य सब शुभगुण ब्रह्मज्ञानसे सहज प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मकी कृपा और देवोंकी प्रसन्नता होनेसे जो उत्तम फल मिल सकता है वह यही है। हमारे आर्य राष्ट्रमें प्राचीन कालके लोग अति दीर्घ आयुष्यसे संपन्न थे, बलिष्ठ थे और अपनी इच्छानुसार स्त्रीपुरुष संतानकी उत्पत्ति तथा विद्वान शूर आदि जिस चाहे उस प्रवृत्तिकी संतति उत्पन्न करते थे। इस विषयमें शतपथ ब्राह्मण के अंतिम अध्यायमें अथवा बृहदारण्यक उपनिषद् के अंतिमविभागमें प्रयोग ही स्पष्ट शब्दोंमें लिखे हैं। इतिहास ग्रंथोंमें इस विषयकी बहुत सीं साक्षियां हैं। पाठक वहां इस बातको देख सकते हैं। उसका यहां उद्धरण करने के लिये स्थान नहीं है। यहां इतना ही बताना है कि, ब्रह्मज्ञान होनेसे अपना शारीरिक स्वास्थ्य संपादन करके अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके साथ साथ अपनी इच्छाके अनुसार उत्तम संतति की उत्पत्ति की जा सकती है; जिस काल में जिस देशमें जिन लोकोंको यह विद्या साध्य होगी वे लोक ही धन्य हो सकते हैं। एक कालमें आर्योंको यह विद्या प्राप्त थी, आगेभी प्रयत्न करनेपर इस विद्याकी प्राप्ति हो सकती है।

संतान उत्पत्तिकी संभावना होनेकी आयुमें ही ब्रह्मज्ञान होने योग्य शिक्षा प्रणाली होनी चाहिये। आठ वर्षकी आयुमें उपनयन करके उत्तम

गुरुके पास योगादि अभ्यासका प्रारंभ करनेसे २०, २५ वर्ष की अवधिमें ब्रह्मसाक्षात्कार होना असंभव नहीं है। अष्टावक्र, शुकाचार्य, सनत्कुमार आदिकोंको वीस वर्षके पूर्व ही तत्वज्ञान हुआ था। इससे वडी ऊमरमें जिनको तत्वज्ञान होगया था ऐसे सत्पुरुष भरतखंडके इतिहासमें बहुतही हैं। तात्पर्य विशेष योग्यतावाले पुरुष जो कार्य अल्प आयुमें कर सकते हैं, वही कार्य मध्यम योग्यता वालोंको अधिक काल में सिद्ध होगा, और कनिष्ट योग्यता वालोंको बहुतही काल लगेगा। इसलिये यहां सर्व साधारण रीतिसे इतनाही कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य समाप्ति तक उक्त योग्यता प्राप्त हो सकती है, और तत्पश्चात् गृहस्थाश्रममें सुयोग्य संतान उत्पन्न करनेकी संभावना कोई अशक्य कोटीकी वात नहीं।

आज कल ब्रह्मज्ञानका विषय वृद्धोंकाही है ऐसा समझा जाता है, उनके मतका निराकरण इस मंत्रके कथनसे होगया है। ब्रह्मज्ञानका विषय वास्तविक रीतिसे "ब्रह्म-चारि" योंका ही है। वनमें गुरुकुलोंमें रहते हुए ये "ब्रह्म-चारी" ही ब्रह्म प्राप्तिका उपाय कर सकते हैं और ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्तितक "ब्रह्म-पुरी" का पता लगा सकते हैं। तथा इसी आयुमें (१) शारीरिक स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजा निर्माण की शक्ति, आदिकी नींव डाल सकते हैं। इस रीतिसे सच्चे ब्रह्मचारी, ब्रह्मपुरीमें जाकर, ब्रह्मज्ञानी वनकर ब्रह्मनिष्ठ रहते हुए उत्तर तीनों आश्रमोंमें शांतिके साथ त्यागपूर्वक भोग करते हुए भी कमलपत्रके समान निर्लेप और निर्दोष जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इस विषयके आदर्श वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, जनक, श्रीकृष्ण आदि हैं।

हरएक आयुमें ब्रह्मज्ञानके लिये प्रयत्न होना ही चाहिये। यहां उक्त बात इसलिये लिखी है कि यदि नवयुवकोंकी प्रवृत्ति इस दिशामें हो गई तो उनको अपना जीवन पवित्र बनाकर उत्तम नागरिक बननेद्वारा सब जगत्में सच्ची शांति स्थापन करनेके महत्कार्यमें अपना जीवन समर्पण करनेका बडा सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। अस्तु। यह मंत्र और भी बहुत बातोंका बोध कर रहा है, परंतु यहां स्थान न होनेसे अधिक स्पष्टीकरण यहां नहीं हो सकता। आशा है कि पाठक उक्त दृष्टिसे इस मंत्रका अधिक विचार करेंगे। इसी मंत्रका और स्पष्टीकरण निम्न मंत्रमें है, देखिये—

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ॥ पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

(३०)

यस्याः पुरुष उच्यते, ब्रह्मणः पुरं यः वेद। ...	जिसके कारण (आत्माको) पुरुष कहते हैं, उस ब्रह्मकी नगरी को जो जानता है,
तं जरसः पुरा चक्षुः न जहाति, न वै प्राणः। ...	उसको वृद्धावस्थाके पूर्व चक्षु छोडता नहीं, और न प्राण छोडता है।

थोडासा विचार—मंत्र २९ में जो कथन है उसीका स्पष्टीकरण इस मंत्रमें है। ब्रह्मपुरिका ज्ञान प्राप्त होनेपर जो अपूर्व लाभ होता है उसका वर्णन इस मंत्रमें है। (१) अति वृद्ध अवस्थाके पूर्व उसके चक्षु आदि इंद्रिय उसको छोडते नहीं, (२) और न प्राण उसको उस वृद्ध अवस्थाके पूर्वही छोडता है। प्राण जलदी चला गया तो अकालमें मृत्यु होता है, और अल्प आयुमें इंद्रिय नष्ट होनेसे अंधापन आदि शारीरिक न्यूनता कष्ट देती है। ब्रह्मज्ञानीको ये कष्ट नहीं होते।

आठ वर्षकी आयुतक कुमार अवस्था,
सोलह ,, ,, बाल्य ,,
सत्तर ,, ,, तारुण्यकी ,,
सौ ,, ,, वृद्ध ,,
एकसोवीस,, ,, जीर्ण ,, । पश्चात् मृत्यु।

ब्रह्मज्ञानीका प्राण जरा अवस्थाके पूर्व नहीं जाता। इस अवस्थातक वह आरोग्य और शांतिका उपभोग लेता है और तत्पश्चात् अपनी इच्छासे शरीरका त्याग करता है। जैसा कि भीष्मपितामह आदिकोंने किया था। (इस विषयमें "मानवी आयुष्य" नामक पुस्तक देखिये)

तात्पर्य यह ब्रह्मविद्या इस प्रकार लाभदायक है। ये लाभ प्रत्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त जो अभौतिक अमृतका लाभ होता है तथा आत्मिक शक्तियोंके विकासका अनुभव होता है वह अलगही है। पाठक इसका विचार करें। अगले मंत्रमें देवोंकी नगरीका स्वरूप बताया है, देखिये—

(१२) ब्रह्मकी नगरी । अयोध्या नगरी ।

अ॒ष्टाच॑क्रा नव॑द्वारा दे॒वाना॒ं पूर॑यो॒ध्या ॥ तस्या॑ हि॒र॒ण्यय॒ः कोश॑ः स्व॒र्गो ज्योति॒षावृ॑तः ॥ ३१ ॥ तस्मि॑न् हि॒र॒ण्यये॒ कोशे॒ त्र्य॑रे॒ त्रिप्र॑तिष्ठिते ॥ तस्मि॒न् यद् य॒क्षमा॒त्म॒न्वत् तद्वै ब्र॑ह्म॒विदो॑ विदुः ॥ ३२ ॥

(३१)

अष्टा-चक्रा, नव-द्वारा, अ-योध्या देवानां पूः । ...	जिसमें आठ चक्र हैं, और नौ द्वार हैं, ऐसी यह अयोध्या, देवोंकी नगरी है ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः, ज्योतिषा आवृतः स्वर्गः । ...	उसमें तेजस्वी कोश है, जो तेजसे परिपूर्ण स्वर्ग है ।

(३२)

त्रि-अरे, त्रि-प्रतिष्ठिते, तस्मिन् तस्मिन् हिरण्यये कोशे, यत् आत्मन्-वत् यक्षं, तद् वै ब्रह्म-विदः विदुः	तीन आरोंसे युक्त, तीन केंद्रोंमें स्थिर, ऐसे उसी उसी तेजस्वी कोशमें, जो आत्मवान् यक्ष है, उसको निश्चयसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ।

थोडासा विचार—यह मनुष्यशरीरही "देवोंकी अयोध्या नगरी" है । इसको नौ द्वार हैं । दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक मूत्रद्वार और एक गुदद्वार मिलकर नौ दरवाजे हैं । पूर्वद्वार मुख है और पश्चिमद्वार गुदा है । पूर्वद्वारसे अंदर प्रवेश होता है और पश्चिमद्वारसे बाहिर गमन होता है । अन्यद्वार छोटे हैं और उनसे करनेके कार्य निश्चित ही हैं । प्रत्येक द्वारमें रक्षक देव मौजूद हैं और वे कभी अपना नियोजित कार्य छोडकर अन्य कार्य नहीं करते । इन नौ द्वारोंके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें निम्न प्रकार कहा है—"जो ब्रह्ममें अर्पण कर आसक्ति विरहित कर्म करता है, उसको वैसेही पाप नहीं लगता, जैसे कि कमलके पत्तेको पानी नहीं लगता । अतएव कर्मयोगी शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे और इंद्रि-

योंसेभी, आसक्ति छोडकर आत्मशुद्धि के लिये कर्म किया करते हैं ॥ जो योगयुक्त होगया, वह कर्मफल छोडकर अंतकी पूर्णशांति पाता है, परंतु जो योगयुक्त नहीं है वह वासनासे फलके विषयमें सक्त होकर बद्ध हो जाता है । सब कर्मोंका मनसे संन्यास कर, जितेंद्रिय देहवान् पुरुष नौ द्वारोंके इस देहरूपी नगरमें न कुच्छ करता और न कराता हुआ आनंदसे रहता है ॥ (गीता ५।१०-१३)" अर्थात् सब कुछ करता हुआ न करनेवाले के समान शांत रहता है । यह श्रेष्ठ सिद्धि इस देहमें रहते हुए प्रयत्न से प्राप्त हो सकती है ।

नौ द्वारोंके अतिरिक्त इस देहमें किंवा इस ब्रह्मपुरिमें आठ चक्र हैं । (१) मूलाधार चक्र-गुदाके पास पृष्ठवंशसमाप्तिके स्थानमें है, यही इस नगरीका मूल आधार है । (२) स्वाधिष्ठान चक्र—उसके ऊपर है । (३) मणिपूरक चक्र—नाभिस्थानमें है । (४) अनाहत चक्र—हृदय स्थानमें है । (५) विशुद्धि चक्र—कंठस्थानमें है । (६) ललना चक्र-जिह्वामूलमें है । (७) आज्ञाचक्र—दोनों भौहोंके बीचमें है । (८) सहस्रार चक्र—मस्तिष्कमें है । इसके अतिरिक्त और भी चक्र हैं, परंतु ये मुख्य हैं । इनमेंसे एक एक चक्रका महत्व योगसाधनके मार्गमें अत्यंत है, क्यों कि प्रत्येक चक्रमें प्राण पहुंचनेसे यहांसे अद्भुत शक्तिका आविष्कार होता है । इन आठ चक्रोंके कारण यह नगरी बडी शक्तिशाली हुई है । जैसे कीलेपर शत्रु निवारण के लिये शस्त्रास्त्र रहते हैं, वैसे ही इस नगरीके संरक्षण के लिये इन आठ चक्रोंमें संपूर्ण शक्तियां शस्त्रास्त्रोंसमेत रखी हैं । इन चक्रोंके द्वारा ही हमारा आरोग्य है और बुद्धि, मन, इंद्रियां और शरीरकी सब शक्ति है । जो मनुष्य ये सब शक्तियोंके आठ केंद्र अपने आधीन कर लेता है, उसको शारीरिक आरोग्य, दीर्घ आयुष्य, सुप्रजानिर्माणकी शक्ति, इंद्रियोंकी स्वाधीनता, मनकी शांति, बुद्धिकी समता और आत्मिक बल सहज प्राप्त होते हैं ।

इसमें जो हृदयकोश है, उस कोशमें "आत्मन्वत् यक्ष" रहता है, इस यक्षको ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं । यही यक्ष केन उपनिषद् में है और देवीभागवत की कथामें भी है । यह यक्षही सब का प्रेरक है, यह

"आत्मवान् यक्ष" है। यह सब इंद्रियों, और प्राणोंको प्रेरणा करके सबसे कार्य कराता है। यही अन्य देवोंका अधिदेव है; शरीरमें जो देवोंके अंश हैं, उन सब देवोंकी नियंत्रणा करनेवाला यही आत्मदेव है। यही आत्माराम है। इस "राम" की यह दिव्य नगरी "अयोध्या" नामसे सुप्रसिद्ध है।

इस नगरीमें तेजोमय स्वर्ग है। स्वर्गधाम यहांही है, स्वर्गप्राप्ति के लिये बाहिर जानेकी जरूरत नहीं है। इस पुरीमें ही स्वर्ग है, जो इसको देखना चाहते हैं यहां ही देखें। सात्विक भावना, राजस भावना और तामस भावना ये तीन इसके आरे हैं। इसके कारण इसमें तीन गतियां उत्पन्न होतीं हैं। इसको देखनेसे इसकी अद्भुत रचना का पता लग सकता है। इन तीनों गतियोंको शांत करके त्रिगुणोंके परे जानेसे उस "आत्मवान् यक्ष" का दर्शन होता है।

यह जैसी ब्रह्मकी नगरी (ब्रह्मणः पूः) है, उसी प्रकार यही (देवानां पूः) देवोंकी नगरी भी है। जैसी यह ब्रह्मसे परिपूर्ण है वैसीही यह देवोंसे परिपूर्ण है। पृथिव्यादि सब देव और देवतायें इसमें रहतीं हैं, और उनको आकर्षण करनेवाला यह आत्मदेव इसमें अधिष्ठाता रहता है। यह आत्मवान् यक्ष "आत्मा" शब्दके पुल्लिंग होनेपर न पुरुष है, "देवी" शब्दके स्त्रीलिंग होनेपर न स्त्री है, और "यक्षं" शब्द नपुंसक लिंग होनेसे न वह नपुंसक है। तीनों लिंगोंसे भिन्न वह शुद्ध तेजस्वी "केवल आत्मा" है। यही दर्शनीय है। उक्त ब्रह्मपुरीमें जाकर इसका दर्शन कैसा किया जाता है, यह बात निम्न मंत्रमें कही है—

(१३) अपनी राजधानीमें ब्रह्मका प्रवेश।

प्र भ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ॥ पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥

(३३)

प्रभ्राजमानां, हरिणीं, यशसा सं परिवृतां, अपराजितां, हिरण्ययीं पुरं, ब्रह्म आविवेश।	तेजस्वी, दुःख हरण करनेवाली, यशसे परिपूर्ण, कभी पराजित न हुई, ऐसी प्रकाशमय पुरीमें, ब्रह्म आविष्ट होता है।

थोडासा विचार—यह ब्रह्मपुरी तेजस्वी है और (हरिणी) दुःखोंका हरण करनेवाली है। इसको प्राप्त करनेसे तथा पूर्णताके वशीभूत करनेसे सबही दुःख दूर हो जाते हैं। इसीलिये इसको "पुरि" कहते हैं क्यों कि इसमें पूर्णता है। जो पूर्ण होती है वही "पुरि" कहलाती है। पूर्ण होनाही यशस्वी बनना है। जो परिपूर्ण बनता है वही यशस्वी होता है। अपूर्णताके साथ यशका संबंध नहीं होता, परंतु सदा पूर्णताके साथही यशका संबंध होता है।

जो तेजस्वी, दुःखहारक, पूर्ण और यशस्वी होता है वह कभी पराजित नहीं होता, अर्थात् सदा विजयी होता है। "(१) तेज, (२) निर्दोषता, (३) पूर्णता, (४) यश और (५) विजय" ये पांच गुण एक दूसरेके साथ मिले जुले रहते हैं। (१) भ्राज, (२) हरण, (३) पुरी, (४) यश, (५) अपराजित ये मंत्रके पांच शब्द उक्त पांच गुणोंके सूचक हैं। पाठक इन शब्दोंको स्मरण रखें और उक्त पांच गुणोंको अपनेमें स्थिर करने और बढानेका यत्न करें। जहां ये पांच गुण होंगे, वहां (हिरण्य) धन रहेगा इसमें कोई संदेहही नहीं है। धन्यता जिससे मिलती है वही धन होता है और उक्त पांचगुणोंके साथ धन्यता अवश्यही रहेगी।

उक्त पांच गुणोंसे युक्त ब्रह्म-नगरीमें ब्रह्म प्रविष्ट होता है। पाठक प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं कि अपने अंदर व्यापक यह ब्रह्म हृदयाकाशमें है। जब अपना मन बाहिरके कामधंदे छोड कर एकाग्र हो जाता है तब आत्माका ज्ञान होनेकी संभावना होती है और तभी ब्रह्मका पता लगना संभव है। क्योंकि वेदमें अन्यत्र कहा है कि "जो पुरुषमें ब्रह्मको देखते हैं वेही परमेष्ठीको जान सकते हैं। (अथर्व. १०।७।१७)" अर्थात् जो अपने हृदयमें ब्रह्मका आवेश अनुभव करते हैं, वेही परमेष्ठी प्रजापतिको जान सकते हैं।

प्रिय पाठको ! यहांतक आपका मार्ग है। आप कहांतक चले आये हैं और आपके स्थानसे यह अयोध्या नगरी कितनी दूर है, इसका विचार कीजिये। इस अयोध्या नगरीमें पहुंचतेही रामराजाका दर्शन नहीं होगा, क्योंकि राजधानीमें जाते ही महाराजाकी मुलाकात नहीं हो सकती।

वहां रहकर तथा वहां के स्थानिक अधिकारी सत्य श्रद्धा आदिकोंकी प्रसन्नता संपादन करके महाराजाके दरबारमें पहुंचना होता है । इसलिये आशा है कि आप जरा शीघ्र गतिसे चलेंगे और वहां जलदी पहुंचेंगे । आपके साथी ये ईर्ष्या द्वेष आदि हैं, ये आपको जलदी चलने नहीं देते; प्रतिक्षण इनके कारण आपकी शक्ति क्षीण हो रही है, इसका विचार कीजिये । और सब झंझाटोंको दूर कर एकही उद्देशसे अयोध्याजीके मार्गका आक्रमण कीजिये । फिर आपको उसी "यक्ष" का दर्शन होगा कि जिसका दर्शन एकवार इंद्रने किया था । आपको मार्गमें "हैमवती उमादेवी" दिखाई देगी । उसको मिलकर आप आगे बढ जाईये । वह देवी आपको ठीक मार्ग बता देगी । इस प्रकार आप भक्तिकी शांत रोश-नीमें सुविचारोंके साथ मार्ग आक्रमण कीजिये, तो बडा दूरका मार्गभी आपकेलिये छोटा हो सकता है । आशा है कि आप ऐसाही करेंगे और फिर भूलकर भटकेंगे नहीं ।

ॐ ॥ शांतिः । शांतिः । शांतिः ॥

ॐ

देवी-भागवत में

केनोपनिषद् की कथा ।

"देवता-गर्व-हरण"

केनोपनिषद् की कथा।

(देवीभागवतान्तर्गता)

देवता-गर्व-हरणम्।

जनमेजय उवाच।

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रवतां वर ॥
द्विजातीनां तु सर्वेषां शक्त्युपास्तिः श्रुतीरिता ॥ १ ॥
संध्याकालत्रयेऽन्यस्मिन् काले नित्यतया विभो ॥
तां विहाय द्विजाः कस्माद् गृह्णीयुश्चान्यदेवताः ॥ २ ॥
दृश्यंते वैष्णवाः केचिद्गाणपत्यास्तथा परे ॥
कापालिकाश्चीनमार्गरता वल्कलधारिणः ॥ ३ ॥
दिगंवरास्तथा वौद्धाश्चार्वाका एवमादयः ॥
दृश्यंते वहवो लोके वेदश्रद्धाविवर्जिताः ॥ ४ ॥

जनमेजयने पूछा—हे सब धर्म जाननेवाले, सब शास्त्र जानने-वालोंमें श्रेष्ठ ! सब द्विजोंके लिये श्रुतिमें शक्तिकी उपासना कही है. (१), हे प्रभो ! तीनों संध्यासमयोंमें तथा अन्य समयमें भी यह शक्ति-उपासना नित्य होनेपर, इसको छोडकर, द्विज अन्य देवताओंको क्यों स्वीकारते हैं ? (२), कई विष्णुके भक्त हैं, कई गणपतिके उपासक हैं, तथा कई अन्य कापालिक, चीनमार्गमें तत्पर, तथा कई वल्कलधारीभी हैं (३) दिगंबर, बौद्ध, तथा चार्वाक आदि वहोत लोग वेदश्रद्धारहितही दिखाई देते हैं (४), हे ब्रह्मन् ! इसमें कारण क्या है, कहो। बुद्धिमान्, पंडित, नाना

किमत्र कारणं ब्रह्मंस्तद्भवान् वक्तुमर्हसि ॥
बुद्धिमंतः पंडिताश्च नानातर्कविचक्षणाः ॥ ५ ॥
अपि संत्येव देवेषु श्रद्धया तु विवर्जिताः ॥
नहि कश्चित् स्वकल्याणं बुद्ध्या हातुमिहेच्छति ॥ ६ ॥
किमत्र कारणं तस्माद्वद वेदविदां वर ॥
मणिद्वीपस्य महिमा वर्णितो भवता पुरा ॥ ७ ॥
कीदृक् तदस्ति यद्देव्याः परं स्थानं महत्तरम् ॥
तच्चापि वद भक्ताय श्रद्दधानाय मेऽनघ ॥ ८ ॥
प्रसन्नास्तु वदंत्येव गुरवो गुह्यमप्युत ॥

सूत उवाच ॥

इति राज्ञो वचः श्रुत्वा भगवान् बादरायणः ॥ ९ ॥
निजगाद ततः सर्वं क्रमेणैव मुनीश्वराः ॥
यच्छ्रुत्वा तु द्विजातीनां वेदश्रद्धा विवर्धते ॥ १० ॥

व्यास उवाच ।

सम्यक् पृष्टं त्वया राजन् समये समयोचितं ॥
बुद्धिमानसि वेदेषु श्रद्धावांश्चैव लक्ष्यसे ॥ ११ ॥

प्रकारके तर्क करनेमें चतुर होते हुएभी वेदमें श्रद्धा नहीं रखते! कोई भी अपना कल्याण जानबूझ कर दूर फेंकनेके लिये तैयार नहीं होता है (६), हे वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ! इसका कारण कहो। मणिद्वीपका महिमा आपने पहिले कहाही है (७), जो देवीका परम श्रेष्ठ स्थान है सो कैसा है? हे निष्पाप! मैं श्रद्धालु हूं इसलिये वह मुझे कहो। गुरु प्रसन्न होनेपर सब ही गुह्य बातें बता देते हैं।

सूतने कहा—हे मुनिश्रेष्ठो! इसप्रकार राजाका भाषण श्रवण करके भगवान् बादरायणनें वह सब क्रमपूर्वक कहा, जिसको सुननेसे द्विजोंकी श्रद्धा वेदमें बढ जाती है। (१०)

व्यासजी बोले—हे राजन्! आपने योग्य समयमें अत्यंत उचित प्रश्न पूछा है, आप बुद्धिमान् हैं और आपकी श्रद्धा वेदोंमें है ऐसा इससे स्पष्ट दिखाई देता है। पहिले एक समय महागर्विष्ठ दैत्योंनें देवोंके साथ

पूर्वं मदोद्धता दैत्या देवैर्युद्धं तु चक्रिरे ॥
शतवर्षं महाराज महाविस्मयकारकम् ॥ १२ ॥
नानाशस्त्रप्रहरणं नानामायाविचित्रितम् ॥
जगत्क्षयकरं नूनं तेषां युद्धमभून्नृप ॥ १३ ॥
पराशक्तिकृपावेशाद्देवैर्दैत्या जिता युधि ॥
भुवं स्वर्गं परित्यज्य गताः पातालवेश्मनि ॥ १४ ॥
ततः प्रहर्षिता देवाः स्वपराक्रम-वर्णनम् ॥
चक्रुः परस्परं मोहात् साभिमानाः समंततः ॥ १५ ॥
जयोऽस्माकं कुतो न स्यादस्माकं महिमा यतः ॥
सर्वोत्तराः कुत्र दैत्याः पामरा निष्पराक्रमाः ॥ १६ ॥
सृष्टि-स्थिति-क्षयकरा वयं सर्वे यशस्विनः ॥
अस्मदग्रे पामराणां दैत्यानां चैव का कथा ॥ १७ ॥
पराशक्तिप्रभावं ते न ज्ञात्वा मोहमागताः ॥
तेषामनुग्रहं कर्तुं तदैव जगदंबिका ॥ १८ ॥

युद्ध किया । हे महाराज ! वह अत्यंत विस्मयकारक युद्ध सौ वर्ष चलता रहा (१२) उसमें नाना प्रकारके शस्त्रास्त्र, विविध प्रकारके कपटप्रयोग वर्ते गये, इसलिये, हे राजन् ! निःसंदेह वह युद्ध जगत् का क्षय करनेवाला ही होगया था । श्रेष्ठ शक्ति-देवीकी कृपा होनेसे उस युद्धमें देवोंने दैत्यों पर विजय प्राप्त किया । तब भूमि और स्वर्ग को छोडकर वे दैत्य पातालमें भाग गये । (१४) इससे देवोंको हर्ष हुआ और वे मोहसे घमंडमें आकर अपने प्रभाव का वर्णन परस्परोंमें कहने लगे ! (१५) अजी ! हमारा जय क्यों न होगा ? हमारा महिमाही वैसा है, सबसे नीच शक्तिहीन दैत्य कहां और हम कहां ? हम सब सृष्टिकी उत्पत्ति, रक्षा और प्रलय करनेवाले यशस्वी देव हैं ! हमारे सामने नीच दैत्योंकी कथा ही क्या है ? (१७) श्रेष्ठ शक्ति-देवीके प्रभावको न जानकर वे सब देव मोहित होगये । उन पर दया करनेके लिये पूर्णकृपासे युक्त जगन्माता यक्षरूपसे प्रकट होगई । हे भूपति ! उस देवीका तेज कोटि सूर्योंके समान प्रकाशमय और कोटि चंद्रोंकी चंद्रिकाके समान शीतल था ।

प्रादुरासीत् कृपापूर्णा यक्षरूपेण भूमिप ॥
कोटिसूर्यप्रतीकाशं चंद्रकोटिसुशीतलम् ॥ १९ ॥
विद्युत्कोटिसमानाभं हस्तपादादिवर्जितम् ॥
अदृष्टपूर्वं तद्दृष्ट्वा तेजः परमसुंदरम् ॥ २० ॥
सविस्मयास्तदा प्रोचुः किमिदं किमिदं त्विति ॥
दैत्यानां चेष्टितं किंवा माया कापि महीयसी ॥ २१ ॥
केनचिन्निर्मिता वाथ देवानां स्मयकारिणी ॥
संभूय ते तदा सर्वे विचारं चक्रुरुत्तमम् ॥ २२ ॥
यक्षस्य निकटे गत्वा प्रष्टव्यं कस्त्वमित्यपि ॥
बलाबलं ततो ज्ञात्वा कर्तव्या तु प्रतिक्रिया ॥ २३ ॥
ततो वह्निं समाहूय प्रोवाचेंद्रः सुराधिपः ॥
गच्छ वह्ने त्वमस्माकं यतोऽसि मुखमुत्तमम् ॥ २४ ॥
ततो गत्वाऽथ जानीहि किमिदं यक्षमित्यपि ॥
सहस्राक्षवचः श्रुत्वा स्वपराक्रमगर्भितम् ॥ २५ ॥
वेगात्स निर्गतो वह्निर्ययौ यक्षस्य सन्निधौ ॥
तदा प्रोवाच यक्षस्तं त्वं कोऽसीति हुताशनम् ॥ २६ ॥

---

(१९) कोटिशः विजुलियोंके समान चमकीला, हस्तपाद आदि अवयवोंसे रहित वह स्वरूप था। पहिले कभी न देखा हुआ वह परम सुंदर तेजस्वी रूप देख कर, विस्मित होते हुए वे देव आपसमें पूछने लगे कि "यह क्या है ? यह क्या है ? क्या यह दैत्योंका कर्तूत है वा कोई बडी माया सब देवोंको आश्चर्य करानेके लिये बनाई है ?" वे सब देव इकट्ठे होकर विचार करने लगे, सब देवों नें उत्तम विचार किया कि, उसी यक्षके समीप जाकर उसी से पूछना कि, "तू कौन है ?" पश्चात् अपने और उसके बल का विचार करके उसका प्रतिकार किया जा सकता है। (२३) नंतर अग्निको बुलाकर देवराज इंद्रदेवनें कहा कि "हे अग्ने ! तू हम सबका उत्तम मुख है, इसलिये वहां जाओ और पता लगाओ कि यह कौन यक्ष है ?" इंद्रका यह भाषण श्रवण करके वह अग्नि वेगसे यक्षके पास पहुंच गया, तब यक्षने उससे पूछा कि "तू

वीर्यं च त्वयि किं यत्तद्वद सर्वं ममाग्रतः ॥
अग्निरस्मि तथा जातवेदा अस्मीति सोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥
सर्वस्य दहने शक्तिर्मयि विश्वस्य तिष्ठति ॥
तदा यक्षं परं तेजस्तदग्रे निदधे तृणम् ॥ २८ ॥
दहैनं यदि ते शक्तिर्विश्वस्य दहनेऽस्ति हि ॥
तदा सर्वबलेनैवाऽकरोद्यत्नं हुताशनः ॥ २९ ॥
न शशाक तृणं दग्धुं लज्जितोऽगात्सुरान् प्रति ॥
पृष्टे देवैस्तु वृत्तांते सर्वं प्रोवाच हव्यभुक् ॥ ३० ॥
वृथाऽभिमानो ह्यस्माकं सर्वशत्वादिके सुराः ॥
ततस्तु वृत्रहा वायुं समाहूयेदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥
त्वयि प्रोतं जगत्सर्वं त्वच्चेष्टाभिश्च चेष्टितं ॥
त्वं प्राणरूपः सर्वेषां सर्वशक्तिविधारकः ॥ ३२ ॥
त्वमेव गत्वा जानीहि किमिदं यक्षमित्यपि ॥
नान्यः कोऽपि समर्थोऽस्ति ज्ञातुं यक्षं परं महः ॥ ३३ ॥

कौन है ? और तेरा पराक्रम क्या है वह सब मुझे कहो ।" वह बोला कि "मैं अग्नि हूं, मुझे जातवेद कहते हैं ।" (२७) "जो कुछ इस विश्वमें पदार्थमात्र है उसको जलानेकी शक्ति मेरे अंदर है ।" तब उस श्रेष्ठ तेजस्वी यक्षने उसके आगे घास रखा और कहा कि यदि तुझमें विश्व जलानेकी शक्ति है तो इस तिनकेको जलाओ । तत्पश्चात् अपने संपूर्ण बलके साथ उस अग्निने यत्न किया, परंतु वह उस तिनकेको न जला सका ! इसलिये वह लज्जित होकर देवोंके पास भागा । देवोंके पूछनेपर उस अग्निनें सब वृत्तांत कह दिया, और अंतमें कहा कि "हे देवो ! सर्व सामर्थ्य धारण करनेके विषयमें हमारा अभिमान व्यर्थही है ।" पश्चात् इंद्रनें वायुको बुलाकर कहा । (३१) "कि तेरे अंदर सब जगत् प्रोया है, तेरी प्रेरणासे सब हलचल हो रही है, तू सबका प्राण है और सर्व शक्तियोंका धारक तू ही है । इसलिये तू ही जाकर जान कि यह कौन यक्ष है । तेरे सिवाय अन्य कोई भी इस परम महान् यक्षका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये

सहस्राक्षवचः श्रुत्वा गुणगौरवगुंफितम् ॥
साभिमानो जगामाशु यत्र यक्षं विराजते ॥ ३४ ॥
यक्षं दृष्ट्वा ततो वायुं प्रोवाच मृदुभाषया ॥
कोऽसि त्वं त्वयि का शक्तिर्वद सर्वं ममाग्रतः ॥ ३५ ॥
ततो यक्षवचः श्रुत्वा गर्वेण मरुदब्रवीत् ॥
मातरिश्वाऽहमस्मीति वायुरस्मीति चाऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥
वीर्यं तु मयि सर्वस्य चालने ग्रहणेऽस्ति हि ॥
मच्चेष्टया जगत्सर्वं सर्वव्यापारवद्भवेत् ॥ ३७ ॥
इति श्रुत्वा वायुवाणीं निजगाद परं महः ॥
तृणमेतत्तवाऽग्रे यत्तच्चालय यथेप्सितम् ॥ ३८ ॥
नो चेद्गर्वं विहायैनं लज्जितो गच्छ वासवम् ॥
श्रुत्वा यक्षवचो वायुः सर्वशक्तिसमन्वितः ॥ ३९ ॥
उद्योगमकरोत् तच्च स्वस्थानान्न चचाल ह ॥
लज्जितोऽगाद्देव–पार्श्वं हित्वा गर्वं स चानिलः ॥ ४० ॥
वृत्तांतमवदत्सर्वं गर्वनिर्वापकारणम् ॥
नैतत् ज्ञातुं समर्थाः स्म मिथ्यागर्वाभिमानिनः ॥ ४१ ॥

समर्थ नहीं है।" (३३), इंद्रका उक्त भाषण, जो स्वकीय गुणोंका गौरव करनेवाला था, श्रवण करके अभिमानके साथ वह वायु सत्वर वहां चला गया जहां वह यक्ष था। यक्ष वायुको देख कर मृदुताके साथ बोला कि "तू कौन है, तुझमें क्या शक्ति है, वह सब मेरे सन्मुख कहो।" (३५) यक्षका भाषण श्रवण करके वायु गर्वके साथ बोला "मैं वायु हूं, मुझे मातरिश्वा कहते हैं। सबको गति देनेकी शक्ति मुझमें है। मेरी प्रेरणासे सब जगत् हलचल करता है।" (३७) यह वायुका भाषण श्रवण करके वह परम महान् यक्ष बोला कि "यह तृण जो तेरे सामने है, उसको जैसा चाहिये वैसा हिलाओ, नहीं तो यह घमंड छोड कर लज्जित होता हुआ इंद्रके पास वापस जाओ।" यह यक्षका भाषण श्रवण करके वायु अपनी सब शक्तिके साथ बडा प्रयत्न करता रहा, परंतु वह तिनका अपने स्थानसे न हिला! इसलिये वायु लज्जित होकर, गर्वका त्याग करके, देवोंके पास चला गया और उसनें गर्वहरण करनेवाला यह संपूर्ण वृत्तांत देवोंको कह दिया।

अलौकिकं भाति यक्षं तेजः परमदारुणम् ॥
ततः सर्वे सुरगणाः सहस्राक्षं समूचिरे ॥ ४२ ॥
देवराडसि यस्मात्त्वं यक्षं जानीहि तत्वतः ॥
तत इंद्रो महागर्वात्तद्यक्षं समुपाद्रवत् ॥ ४३ ॥
प्राद्रवच्च परं तेजो यक्षरूपं परात्परम् ॥
अंतर्धानं ततः प्राप तद्यक्षं वासवाग्रतः ॥ ४४ ॥
अतीव लज्जितो जातो वासवो देवराडपि ॥
यक्षसंभाषणाभावाल्लघुत्वं प्राप चेतसि ॥ ४५ ॥
अतः परं न गंतव्यं मया तु सुरसंसदि ॥
किं मया तत्र वक्तव्यं स्वलघुत्वं सुरान् प्रति ॥ ४६ ॥
देहत्यागो वरस्तस्मान्मानो हि महतां धनम् ॥
माने नष्टे जीवितं तु मृति-तुल्यं न संशयः ॥ ४७ ॥
इति निश्चित्य तत्रैव गर्वं हित्वा सुरेश्वरः ॥
चरित्रमीदृशं यस्य तमेव शरणं गतः ॥ ४८ ॥

हम सब देव व्यर्थ गर्व कर रहे हैं, हम इस यक्षको नहीं जान सकते। यह बडा भारी अलौकिक यक्ष है। इसके पश्चात् सब देवोंनें इंद्रसे कहा कि "जिसकरण तूं देवोंका राजा है इसलिये अब तूही जाओ और तत्वदृष्टिसे यक्षको जानो।" तब इंद्र बडे गर्वके साथ उस यक्षके पास चला गया। (४३)तब वह श्रेष्ठसे श्रेष्ठ यक्षरूप तेज दूर होगया और उस इंद्रके सामनेसे एकदम गुप्त होगया!! इससे वह देवोंका राजा इंद्र बडाही लजित होगया। यक्षके साथ संभाषण न कर सकनेके कारण उसको छोटापन प्राप्त हुआ। इसलिये वह कहने लगा कि "अब देवोंकी सभामें जाना मुझे योग्य नहीं है। मैं वहां जाकर क्या कहूं? देवोंको अपना छोटापन ही वहां जाकर कहना होगा!! इससे तो मरण अच्छा है क्योंकि सन्मानही श्रेष्ठोंका धन होता है। संमान नष्ट होनेपर जो जीवित है वह मरणके बराबर ही है, इसमें संदेहही क्या है? (४७) इतना निश्चय करके, गर्वको छोडकर वह इंद्र उसी परम देवको शरण गया कि जिसका इसप्रकार

तस्मिन्नेव क्षणे जाता व्योमवाणी नभस्थले ॥
मायावीजं सहस्राक्ष जप तेन सुखी भव ॥ ४९ ॥
ततो जजाप परमं मायावीजं परात्परम् ॥
लक्षवर्षं निराहारो ध्यानमीलितलोचनः ॥ ५० ॥
अकस्माच्चैत्रमासीयनवम्यां मध्यगे रवौ ॥
तदेवाविरभूत्तेजस्तस्मिन्नेव स्थले पुनः ॥ ५१ ॥
तेजो–मंडलमध्ये तु कुमारीं नवयौवनाम् ॥
भास्वज्जपाप्रसूनाभां बालकोटिरविप्रभाम् ॥ ५२ ॥
वालशीतांशुमुकुटां वस्त्रांतर्व्यंजितस्तनीम् ॥
चतुर्भिर्वरहस्तैस्तु वरपाशांकुशाभयाम् ॥ ५३ ॥
दधानां रमणीयांगीं कोमलांगलतां शिवाम् ॥
भक्तकल्पद्रुमामंबां नानाभूषणभूषिताम् ॥ ५४ ॥
त्रिनेत्रां मल्लिकामालाकवरीजूटशोभिताम् ॥
चतुर्दिक्षु चतुर्वेदैर्मूर्तिमद्भिरभिष्टुताम् ॥ ५५ ॥
दंतप्रभाभिरभितः पद्मरागीकृतक्षमाम् ॥
प्रसन्नस्मेरवदनां कोटि–कंदर्प–सुंदराम् ॥ ५६ ॥

अद्भुत चरित्र था । उसी क्षणमें आकाशमें शब्द हुआ कि "हे इंद्र! माया-वीजका जप करो, और सुखी हो जाओ ।" (४९), पश्चात् उस इंद्रनें श्रेष्ठ मायावीजका जप, एक लक्ष वर्षपर्यंत निराहार होकर तथा एकाग्रदृष्टिसे, किया । नंतर अकस्मात् चैत्रनवमीके दिन मध्यदिनके समय वही पूर्वोक्त तेज उसी स्थानमें पुनः प्रकट हुआ । (५१) उस तेजके मंडलमें एक तरुण कुमारी, जो जपापुष्पके समान गोरी, उदयकालके कोटी सूर्यके समान तेजस्वी, उदयकालके चंद्रमाके समान मुकुट धारण करनेवाली, वस्त्रके अंदरसे जिसके स्तन दिखाई दे रहे हैं, चार श्रेष्ठ हाथोंमें जिसनें वर, पाश, अंकुश और अभय धारण किये हैं, रमणीय शरीरसे युक्त, कल्याण-मय, भक्तके लिये कल्पवृक्षके समान, सबकी माता, नाना प्रकारके भूष-णोंसे भूषित, तीन नेत्र धारण करनेवाली, चमेलीके पुष्पोंसे जिसके केश सुशोभित हो रहे हैं, चारों दिशाओंसे मूर्तिमान् चारों वेद जिसकी प्रशंसा कर रहे हैं, दांतोंकी स्वच्छ किरणोंसे जिसने भूमिको प्रकाशित किया है,

रक्तांवरपरीधानां रक्तचंदनचर्चिताम् ॥
उमाभिधानां पुरतो देवीं हैमवतीं शिवाम् ॥ ५७ ॥
निर्व्याजकरुणामूर्तिं सर्वकारणकारणाम् ॥
ददर्श वासवस्तत्र प्रेमसद्गदितांतरः ॥ ५८ ॥
प्रेमाश्रुपूर्णनयनो रोमांचिततनुस्ततः ॥
दंडवत् प्रणनामाथ पादयोर्जगदीशितुः ॥ ५९ ॥
तुष्टाव विविधैः स्तोत्रैर्भक्तिसन्नतकंधरः ॥
उवाच परमप्रीतः किमिदं यक्षमित्यपि ॥ ६० ॥
प्रादुर्भूतं च कस्मात्तद्वद सर्वं सुशोभने ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा प्रोवाच करुणार्णवा ॥ ६१ ॥
रूपं मदीयं ब्रह्मैतत्सर्वकारणकारणम् ॥
मायाधिष्ठानभूतं तु सर्वसाक्षि निरामयम् ॥ ६२ ॥
सर्वे वेदा यत्पदमामनंति तपांसि सर्वाणि च यद्वदंति ॥
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥ ६३॥

जो प्रसन्न वदन और कोटि मदनोंके समान सुंदर है, लाल वस्त्र धारण करनेवाली, तथा लाल चंदन जिसने शरीरपर लगाया है, जिसका नाम हैमवती शिवा उमा है वह देवी करुणामय प्रेमकी मूर्ति सर्व जगत्कारण-रूप देवता इंद्रने देखी ! वह उत्तम रूप देख कर इंद्र प्रेममय भक्तिसे सद्गदित होगया, प्रेमके अश्रु उसके आंखोंसे वहने लगे, शरीरपर रोमांच खडे होगये, उसने उस जगन्माताके पांओंपर दंडवत् प्रणाम किया। (५९) भक्तिके कारण जिसका सिर नम्र हुआ है, ऐसा वह इंद्र, विविध स्तोत्रोंसे स्तुति करनेके पश्चात् प्रसन्नचित्त होकर बोला कि "यह यक्ष कौन है ? कैसा प्रकट हुआ, यह सब, हे सुंदरी ! मुझे कहो।" उस इंद्रका यह भाषण श्रवण करके वह दयामय देवी बोलने लगी। "वह मेरा ही ब्रह्मरूप है, जो सर्व कारणोंका मूल कारण है। वह मायाका अधिष्ठान सर्वसाक्षी और उपद्रवरहित है। सब वेद जिस पदका वर्णन कर रहे हैं, सब तप जिस के लिये किये जाते हैं, ब्रह्मचर्य जिसके कारण आचरते हैं

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म तदेवाहुश्च ह्रीमयम् ॥
द्वे बीजे मम मंत्रौ स्तो मुख्यत्वेन सुरोत्तम ॥ ६४ ॥
भागद्वयवती यस्मात् सृजामि सकलं जगत् ॥
तत्रैकभागः संप्रोक्तः सच्चिदानंदनामकः ॥ ६५ ॥
माया-प्रकृति-संज्ञस्तु द्वितीयो भाग ईरितः ॥
सा च माया पराशक्तिः शक्तिमत्यहमीश्वरी ॥ ६६ ॥
चंद्रस्य चंद्रिकेवेयं ममाभिन्नत्वमागता ॥
साम्यावस्थात्मिका सैषा माया मम सुरोत्तम ॥ ६७ ॥
प्रलये सर्वजगतो मदभिन्नैव तिष्ठति ॥
प्राणिकर्मपरीपाकवशतः पुनरेव हि ॥ ६८ ॥
रूपं तदेवमव्यक्तं व्यक्तीभावमुपैति च ॥
अन्तर्मुखा तु याऽवस्था सा मायेत्यभिधीयते ॥ ६९ ॥
बहिर्मुखा तु या माया तमःशब्देन सोच्यते ॥
बहिर्मुखात्तमोरूपाज्जायते सत्वसंभवः ॥ ७० ॥
रजोगुणस्तदैव स्यात् सर्गादौ सुरसत्तम ॥
गुणत्रयात्मकाः प्रोक्ता ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ ७१ ॥

वह पद सारांश रूपसे मैं तुझे कहती हूं।" (६३) "ओंकार यह एकाक्षर ब्रह्म है वही ह्री-मय है। हे देवश्रेष्ठ! ये दो बीज मेरे दो मुख्य मंत्र हैं। मैं मायाभाग और ब्रह्मभाग ऐसे दो भागोंसे संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति करती हूँ। उनमें एक भाग सत्-चिद्-आनंद नामक है और दूसरा माया-प्रकृतिसंज्ञक है। वह ही श्रेष्ठ मायाशक्ति है और उस शक्तिसे युक्त मैं ईश्वरी हूं। चंद्रकी जैसी चंद्रिका वैसीही यह शक्ति मेरे साथ एकरूप है। हे देवश्रेष्ठ! यह मेरी माया साम्य अवस्थारूप है।" (६७) "सब जगत् का प्रलय होनेपर वह मेरे अंदर ही रहती है। प्राणियोंके कर्मोंका परिपाक होनेपर वह ही अपना अव्यक्तरूप व्यक्त करती है। जो अंतर्मुख अवस्था है वह माया है। (६९) तथा जो बहिर्मुख माया होती है उसीको तम कहते हैं। बहिर्मुख तमोरूप मायासे सत्वकी उत्पत्ति होती है। हे देवश्रेष्ठ! उत्पत्तिके प्रारंभमें उसी समय रजोगुण उत्पन्न होता है। येही

रजोगुणाधिको ब्रह्मा विष्णुः सत्वाधिको भवेत् ॥
तमोगुणाधिको रुद्रः सर्वकारणरूपधृक् ॥ ७२ ॥
स्थूलदेहो भवेद्ब्रह्मा लिंगदेहो हरिः स्मृतः ॥
रुद्रस्तु कारणो देहस्तुरीया त्वहमेव हि ॥ ७३ ॥
साम्यावस्था तु या प्रोक्ता सर्वांतर्यामिरूपिणी ॥
अत ऊर्ध्वं परं ब्रह्म मद्रूपं रूपवर्जितम् ॥ ७४ ॥
निर्गुणं सगुणं चेति द्विधा मद्रूपमुच्यते ॥
निर्गुणं मायया हीनं सगुणं मायया युतम् ॥ ७५ ॥
साऽहं सर्वं जगत् सृष्ट्वा तदंतः संप्रविश्य च ॥
प्रेरयाम्यनिशं जीवं यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥
सृष्टिस्थितितिरोधाने प्रेरयाम्यहमेव हि ॥
ब्रह्माणं च तथा विष्णुं रुद्रं वै कारणात्मकं ॥ ७७ ॥
मद्भयाद्वाति पवनो भीत्या सूर्यश्च गच्छति ॥
इंद्राग्निमृत्यवस्तद्वत् साहं सर्वोत्तमा स्मृता ॥ ७८ ॥

त्रिगुणात्मक ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं।" (७१) "रजोगुणके आधिक्यसे ब्रह्मा, सत्वगुणके प्रभावसे विष्णु और तमोगुणविशेष होनेसे रुद्र होता है जो सर्व कारणरूपका धारण करता है। स्थूल देह ब्रह्मा है, लिंगदेह विष्णु है, कारण देह रुद्र है और तुरीय अवस्था मैं ही हूं। (७३) जो तीन गुणोंकी साम्यावस्था मैनें पहिले कही है वही सर्वांतर्यामिणी मेरी उपाधि है। इससे परे जो रूपरहित परब्रह्म है वह ही मेरा वास्तव रूप है। निर्गुण और सगुण ऐसा मेरा रूप दो प्रकार का है। माया रहित निर्गुण होता है और मायासहित सगुण होता है"। (७५) "वह मैं सब जगत् उत्पन्न करके, उसमें प्रविष्ट हो कर, सब जीवोंको उनके कर्म और संस्कारोंके अनुकूल प्रेरित करती हूं। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश करनेके लिये ब्रह्मा विष्णु और रुद्रको मैं ही प्रेरित करती हूं। (७७) मेरे भयसे वायु चलता है, मेरे भयसे सूर्य चल रहा है, उसी प्रकार इंद्र, अग्नि, मृत्यु आदि देवोंके विषयमें समझो। इस प्रकारकी मैं सर्व श्रेष्ठ देवता हूं। मेरी प्रसन्नता होनेके कारण आपका विजय वास्तविक रीतिसे होगया था।

मत्प्रसादाद् भवद्भिस्तु जयो लब्धोऽस्ति सर्वथा ॥
युष्मानहं नर्तयामि काष्ठपुत्तलिकोपमान् ॥ ७९ ॥
कदाचिद्देवविजयं दैत्यानां विजयं क्वचित् ॥
स्वतंत्रा स्वेच्छया सर्वं कुर्वे कर्मानुरोधतः ॥ ८० ॥
तां मां सर्वात्मिकां यूयं विस्मृत्य निजगर्वतः ॥
अहंकाराऽऽवृतात्मानो मोहमाप्ता दुरंतकम् ॥ ८१ ॥
अनुग्रहं ततः कर्तुं युष्मद्देहादनुत्तमम् ॥
निःसृतं सहसा तेजो मदीयं यक्षमित्यपि ॥ ८२॥
अतःपरं सर्वभावैर्हित्वा गर्वं तु देहजम् ॥
मामेव शरणं यात सच्चिदानंदलक्षणम् ॥ ८३ ॥

व्यास उवाच ।

इत्युक्त्वा च महादेवी मूलप्रकृतिरीश्वरी ॥
अंतर्धानं गता सद्यो भक्त्या देवैरभिष्टुता ॥ ८४ ॥
ततः सर्वे स्वगर्वं तु विहाय पदपंकजम् ॥
सम्यगाराधयामासुर्भगवत्याः परात्परम् ॥ ८५ ॥
त्रिसंध्यं सर्वदा सर्वे गायत्रीजपतत्पराः ॥
यज्ञभागादिभिः सर्वे देवीं नित्यं सिषेविरे ॥ ८६ ॥

लकडीकी पुतलियोंके समान आप सब देवताओंको मैं नचाती हूं।" (७९) "किसी समय देवोंका विजय, किसी दूसरे समय दैत्योंका जय कराती हूं। मैं स्वतंत्र होनेके कारण अपनी इच्छाके अनुसार कर्मोंके अनुरोधसे कार्य करती हूं। आप सब देव घमंडके कारण भयंकर मोहके वश होते हुए मुझेही भूल गये!! आपपर दया करनेकी इच्छासे आपकेही देहोंसें मेरा तेज यक्षरूपसे प्रकट होगया था। इसलिये अब सब प्रकारका गर्व छोड दीजिये और सच्चिदानंदरूप मुझेही शरण आजाइये।" (८३)

व्यासजी बोले—इतना भाषण होनेके पश्चात् वह मूलप्रकृतिसंज्ञक महादेवी वहांही गुप्त होगई। पश्चात् सब देवोंनें गर्व छोडकर उस भगवती देवीके सबसे श्रेष्ठ चरणकमलकी आराधना करनेका प्रारंभ किया। सब देव तीनों संध्या समयोंमें गायत्रीका जप तत्परतासे करने लगे। यज्ञ-

एवं सत्ययुगे सर्वे गायत्रीजपतत्पराः ॥
तारहृल्लेखयोश्चाऽपि जपे निष्णातमानसाः ॥ ८७ ॥
न विष्णूपासना नित्या वेदेनोक्ता तु कुत्रचित् ॥
न विष्णुदीक्षा नित्यास्ति शिवस्यापि तथैव च ॥ ८८ ॥
गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता ॥
यया विना त्वधःपातो ब्राह्मणस्याऽस्ति सर्वथा ॥ ८९ ॥
तावता कृतकृत्यत्वं नान्यापेक्षा द्विजस्य हि ॥
गायत्रीमात्रनिष्णातो द्विजो मोक्षमवाप्नुयात् ॥ ९० ॥
कुर्यादन्यं न वा कुर्यादिति प्राह मनुः स्वयम् ॥
विहाय तां तु गायत्रीं विष्णूपास्तिपरायणः ॥ ९१ ॥
शिवोपास्तिरतो विप्रो नरकं याति सर्वथा ॥
तस्मादाद्ययुगे राजन् गायत्रीजपतत्पराः ॥ ९२ ॥
देवीपदांबुजरता आसन् सर्वे द्विजोत्तमाः ॥ ९३ ॥

इति श्रीदेवीभागवते महापुराणे द्वादशस्कंधे
अष्टमोऽध्यायः ॥

भाग देकर सब देव देवीकी सेवा करने लगे। इसप्रकार सब सत्पुरुष सत्ययुगमें गायत्रीजपमें तत्पर थे। ओंकार और हृल्लेखमंत्र के जपमें सब ही अत्यंत निपुण होगये थे। (८७) विष्णुकी नित्य उपासना वेदने कहीं भी नहीं कही। विष्णु और शिवकी दीक्षा भी उसी प्रकार नित्य नहीं है। परंतु गायत्री की उपासना सब वेदोंनें नित्य कही है। जिस गायत्री उपासनाके विना ब्राह्मणका सर्वथा अधःपात होता है। (८९) किसी अन्य उपायसे उतना कृतकृत्यत्व नहीं होता जितना गायत्री उपासनासे होता है। केवल गायत्री उपासना करनेसे द्विज मोक्ष प्राप्त कर सकता है। दूसरा कुच्छ करे वा न करे, परंतु गायत्री उपासना अवश्य करनी चाहिये ऐसा मनुने स्वयं कहा है। गायत्रीको छोड कर जो विष्णु अथवा शिवकी भक्ति करता है वह द्विज सब प्रकारसे नरकको जाता है। इसलिये, हे राजन्! आद्य युगमें सब द्विजश्रेष्ठ गायत्रीजपमें तत्पर थे और देवीके चरणकमलमें निष्ठा रखते थे। (९३) [इस प्रकार देवीभागवतके द्वादश स्कंधका अष्टम अध्याय समाप्त हुआ]

देवीभागवतकी उक्त कथाका विशेष विचार।

इस कथाका मुख्य भाग केन उपनिषद् के मूल तात्पर्य के साथ मिलता जुलता है। तथापि इसका अधिक विचार होनेके लिये तथा मूल वेदके मंत्रोंके साथ संगति देखनेके लिये इस कथाके कई विधानोंकी विशेष रीतिसे संगति देखने की आवश्यकता है यह कार्य अब करना है।

(१) कथा की भूमिका।

श्लोक १ से लेकर श्लोक ११ ग्यारहतक इस कथाकी भूमिका है। यह भूमिका देखने योग्य है। गायत्री की उपासना छोडकर ब्राह्मणादि द्विज विष्णु, गणपति, आदि देवोंकी उपासना क्यों करने लगे हैं? तथा कापालिक, चीनमार्गी, वल्कलधारी, दिगंबर, बौद्ध, चार्वाक आदि क्यों हुए हैं? और वेद पर क्यों श्रद्धा नहीं रखते? इसका कारण क्या है? यह पृच्छा पहिले चार मंत्रोंमें की है।

बुद्धिमान्, पंडित, तर्कशिरोमणी, विद्वान् होते हुएभी ये लोग क्यों वेदमार्गको छोडकर अन्य मतमतांतरोंके झगडोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं? क्यों वे लोग सच्चा कल्याण का मार्ग छोडकर असत्य और हानिकारक मतभेदोंमें फंस रहे हैं? इसका कारण जाननेकी इच्छा श्लोक ५, ६, ७ में प्रकट की है।

वेदके विषयमें जो लोग पूर्ण श्रद्धा रखते हैं उनके मनमें आज भी येही प्रश्न आ रहे हैं। इन प्रश्नोंका सीधा और सच्चा उत्तर यही है कि, वैदिक धर्मियोंमें भी वेदके विषयमें नाममात्र श्रद्धा है, और जितनी रुची अन्य बातोंमें है, उतनी न वेदका अध्ययन करनेकी ओर है और न वेदके लिये तन मन धन अर्पण करनेकी तैयारी है। नहीं तो यदि वेदका उत्तम अध्ययन हो जायं, और योगादि साधनों द्वारा वेदके सत्यसिद्धांत अनुभवमें आजांये, तो संभवही नहीं कि, किसीकी वेदमें अश्रद्धा हो सके। वेदके सिद्धांत तीनों कालोंमें सत्य होनेसे उनके विषयमें कभी अश्रद्धा होही नहीं सकती। तात्पर्य वेदके विषयमें जनतामें अश्रद्धा उत्पन्न होने का कारण वैदिकधर्मियोंकी शिथिलता ही निःसंदेह है। इसलिये इस समयमें भी वैदिकधर्मियोंको उचित है कि वे अपने श्रेष्ठधर्मके विषयमें इसप्रकार उदासीन न रहें।

लोक गायत्रीकी उपासना छोडकर "विष्णु, गणपति" आदि देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं यह एक प्रश्न ऊपरकी भूमिकामें आगया है। उसके उत्तरमें इतनाही कहा जा सकता है कि —

इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ॥
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋ० १।१६४।४६

"एक ही सत्य का अनेक प्रकारसे ज्ञानी जन वर्णन करते हैं। उसी एकको इंद्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि नाम देते हैं।" यह वेदका कथन है। उक्त मंत्रसे अनुक्त देवताओंके नामभी उसी अद्वितीय सत्य आत्माके बोधक हैं, अर्थात् "विष्णु, गणपति, सूर्य" आदि नामभी उसी एक आत्माके बोधक होते हैं। यह वैदिक कल्पना अंतःकरणमें दृढ माननेपर "विष्णु, गणपति, शिव" आदि नामोंके भेदसे उपास्य देवताका भेद नहीं होता, यह वास्तविक बात है। परंतु उक्त बातका ध्यान न करनेसे और अपनी "विष्णु" नाम की देवता "शिव" नामकी देवतासे भिन्न है, और अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ भी है ऐसा माननेसे भेदकी उत्पत्ति होगई है!! इस लिये सत्य वैदिक कल्पनाकी जागृति करनेसे ही उक्त भेदोंकी कल्पना समूल नष्ट हो सकती है। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

दिगंबर, बौद्ध, चार्वाक आदि मत उत्पन्न होनेका कारणभी वैदिक धर्मियोंकी हठवृत्तिही है। जब वैदिक धर्मियोंमें यहांतक हठ हुआ कि, श्रुतिके मंत्रोंका आध्यात्मिक भाव न लेकर, और उनका मूल उद्देश न समझकर, तथा मंत्रार्थके विरोधको न देखते हुए ही, मर्जी चाहे विनियोग करके कर्मकांडको बढाया; तब धर्मसे प्रभावित सत्यनिष्ठ आत्मा उससे विमुख होकर अन्यमत प्रचलित करनेमें प्रवृत्त हुए!! उपनिषदोंने भी उस यज्ञमार्गको "अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः!" (अंधोंके पीछेसे जानेवाले अंधे) लोकोंका अंधामार्ग ही कहा है। जब उपनिषत्कार भी उसको "अंधेरा मार्ग" कहने लगे तो फिर बौद्धोंनें नया मत निकाला तो कोई आश्चर्य ही नहीं है; तात्पर्य पूर्ण रीतिसे और निःपक्षपातसे विचार करनेपर यही पता

लगता है कि अन्य मत प्रचलित होनेका कारण वैदिक धर्मियोंकी ही शिथिलता है। इस समयतकभी यही शिथिलता रही है। यद्यपि इस समय कई लोक वेदप्रचारका ध्वनि उठाते हैं, तभी संपूर्ण वेदाध्ययन करनेके लिये अन्य स्वार्थोंको दूर करनेकी रुची उनमेंभी नहीं है। अस्तु। तात्पर्य यह है कि, वैदिक धर्मी लोगोंको अपनी शिथिलता दूर करके स्वधर्मकी जागृति के लिये कटिबद्ध होना चाहिये।

इतनी सर्वसाधारण भूमिका के पश्चात् श्लोक ११ तक सर्व साधारण प्रश्नोत्तर हैं कि जो अगले कथाभाग के साथ विशेष संबंध रखते हैं।

(२) कथाका तात्पर्य।

श्लोक १२ से कथाका प्रारंभ हो गया है। "देव और दैत्योंका भयंकर युद्ध हुआ, उसमें दैत्योंका पराभव हुआ और देवोंको जय मिला। उस जयके कारण देवोंको घमंड हो गई। वे अपने घमंडमें मदोन्मत्त हो गये और अपने अंदरकी व्यापक मूल आत्मशक्तिको ही भूल गये!!

इन देवोंकी घमंड उतारने और उनको बोध करनेके लिये वह दिव्य आत्मशक्ति प्रकट हुई। जब देवोंने उसकी ओर देखा तब उनको उसका पताही न लगा। वे आपसमें ही विचार करने लगे कि यह क्या है? देवोंकी सभाद्वारा क्रमशः अग्नि और वायु उस आत्मशक्तिके पास भेजे गये, परंतु वे निराश होकर वापस आगये, पश्चात् देवोंका राजा इंद्र गया। तब वह शक्ति गुप्त हो गई। तात्पर्य कोई देव उस आत्मशक्तिका पता न लगा सका!

तत्पश्चात् इंद्र लज्जित होगया, तब उसनें एक शब्द सुना।

तदनुसार करनेसे उसके सन्मुख वह शक्ति फिर प्रकट होगई और उस इंद्रको सत्यशक्तिका ज्ञान प्राप्त हुआ।"

यह संपूर्ण कथाका तात्पर्य है। उपनिषद्में लिखी कथाका भी यही आशय है। अग्नि वायु आदि देवोंको आत्माका ज्ञान नहीं होता, केवल अकेला इंद्रही उमाकी सहायतासे आत्माका ज्ञान प्राप्त कर सकता है यह इस कथाका तथा उपनिषद्का सारांश है। यही भाव निम्न मंत्रमें है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ॥
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
यजु. ४०।४

"वह आत्मा अथवा ब्रह्म (अन्-एजत्) न हिलनेवाला अर्थात् (तिष्ठत्) स्थिर है, परंतु मनसे भी वेगवान् है। (एनत्) इसको (देवाः) देव (न आप्नुवन्) प्राप्त नहीं कर सकते। वह (धावतः) दौडनेवाले दूसरोंके परे होता है, और (तस्मिन्) उसी आत्मतत्वमें रहनेवाला (मातरि-श्वा) माताके गर्भमें रहनेवाला गर्भस्थ जीव (अपः) कर्मोंको धारण करता है।" इस मंत्रमें—

"देवाः एनत् न आप्नुवन् ॥"

"देवोंको वह नहीं प्राप्त हुआ" यह वाक्य है। इसी वाक्यकी व्याख्या केन उपनिषद् में है, और इस कथामें भी है। जो बात कथाके द्वारा बतानी है वह यही है कि, "देव आत्माका साक्षात्कार नहीं कर सकते।" पाठक पूछेंगे कि क्या इतने प्रभावशाली देवभी आत्मा को नहीं देख सकते हैं? उत्तरमें निवेदन है कि सचमुच देव नहीं देख सकते। उसका अनुभव पाठक अपने देहमें ही ले सकते हैं—

व्यक्तिमें देव	जगत्में देव
वाणी	अग्नि
प्राण	वायु
श्रोत्र	दिशा
नेत्र	सूर्य
बुद्धि, मन, अहंकार	प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार

इंद्रियां बहिर्मुख होनेसे अंदरकी बातको नहीं देख सकतीं। जो अग्नि वायु आदि बाहेर देवतायें हैं, वही अंशरूपसे वाचा प्राण आदि रूपमें शरीरमें आकर रहीं हैं। इसलिये यदि शरीरकी इंद्रियां जीवात्माका साक्षात्कार नहीं कर सकतीं, तो उसी प्रकार अग्नि वायु आदि देव परमात्माको नहीं जान सकते। दोनों स्थानमें एकही नियम है और दोनों स्थानमें एक ही हेतु है, इसलिये कहा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्॥
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
कठ उ. २।१।१

"(स्वयं-भूः) परमेश्वरने (खानि) इंद्रियां (पर-अंचि) बाहिर गमन करनेवालीं ही (व्यतृणत्) बनाईं हैं। (तस्मात्) इसलिये उनसे (पराङ्-पश्यति) बाहिरका देखा जाता है (न अन्तर-आत्मन्) अंदरके आत्मा को नहीं देखा जाता। अमृतकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला कोई एखाद धैर्यशाली बुद्धिमान् मनुष्य चक्षु आदिका संयम करके आत्माका दर्शन करता है।" अर्थात् इंद्रियोंकी प्रवृत्तिही बाहिरकी ओर है। आंख बाहिरके पदार्थोंको देखता है, अंदर नहीं देख सकता; इसी प्रकार अन्य इंद्रियोंका है। जो इंद्रियोंका स्वभाव है, वही सूर्यादि देवोंका है। क्यों कि सूर्यकाही पुत्र आंख है, वायुकाही पुत्र प्राण है, अग्निकाही पुत्र वागाडंवर है, इस प्रकार सब देवताओंके अंशावतार हमारे देहकी कर्मभूमिमें होगये हैं!! पिताका स्वभाव ही पुत्रमें आता है, इस न्यायसे जो सूर्यसे नहीं होता वह आंखसे भी नहीं होगा, और जो आंख नहीं कर सकती वह सूर्यभी विस्तृत अर्थमें नहीं कर सकेगा। यह बात विशेषतः आत्माके साक्षात्कारके विषयमें सत्य है। इस प्रकार कोई देव आत्माका साक्षात्कार कर नहीं सकते, चाहे आप अध्यात्म दृष्टिसे अपने शरीरमें देखिये, चाहे आधिदैविक दृष्टिसे संपूर्ण ब्रह्मांडमें देखिये।

देवताओंकी घमंडका अनुभव आप शरीरमें लीजिये, तत्पश्चात् वही बात आप जगत्में अनुमानसे जान सकते हैं। यदि जीवात्मासे शक्ति न प्राप्त हुई तो आंख, नाक, कान, जिह्वा, हाथ, पांव आदि कोईभी इंद्रिय कार्य नहीं कर सकते। यह बात प्रत्येक अनुभव कर सकता है। जीवात्मा चला जानेके कारण मुर्दा हिल नहीं सकता, इस बातका विचार करनेसे दर्शनशक्तिके विषयमें आंख की घमंड, श्रवण करनेके विषयमें कानका गर्व, श्वासोच्छ्वास करनेके विषयमें प्राणका अभिमान, वक्तृत्व करनेके विषयमें वागिंद्रिय का अहंकार, दौडनेके विषयमें पावों का अहंभाव, तथा अन्यान्य इंद्रियोंके स्वकर्मके विषयमें

अभिमान व्यर्थही है; क्यों कि ये इंद्रिय आत्मासे शक्ति लेकरही कार्य कर रहे हैं, ये स्वयं कुछ करही नहीं सकते । इसी प्रकार सूर्यचंद्रादिकों की अवस्था है । देखिये—

> भीषाऽस्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः ।
> भीषास्मादग्निश्चेंद्रश्च । मृत्युर्धावति पंचमः ॥
>
> तै. उ. २।८।१। नृ. २।४

> न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो
> भान्ति कुतोऽयमग्निः ॥ तमेव भान्तमनु भाति
> सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
>
> कठ. उ. ५।१५। श्वे. ६।१४
>
> मुंड. उ. २।२।१०.

"इस (आत्माके) भयसे वायु वहता है, सूर्य उदय होता है, अग्नि जलता है, इंद्र चमकता है, और मृत्यु दौडता है ॥" तथा "वहां (आत्मामें) सूर्य प्रकाशता नहीं, चंद्रकी चांदनी वहां पहुंचती नहीं, तारकायें चमकतीं नहीं, विजुलियां रोशनी नहीं देतीं, फिर इस अग्नि की तो बातही क्या है? उसी के तेजसे यह सब तेजस्वी होता है, और उसीकी रोशनीसे यह प्रतीत होता है ।" इस प्रकार उस आत्माका प्रभाव है । उस आत्माकी शक्ति लेकर सूर्य प्रकाशता है और वायु अपना कार्य कर रहा है। तथा अन्य देवतायें भी उसीकी शक्तिसे कार्य करतीं हैं । इसलिये देवताओंकी शक्ति अत्यंत अल्प है और उस आत्माकी शक्ति बडी विशाल है । अल्पशक्तिवाले को विशाल शक्तिवालेका आवरण करना असंभव है, यही बात उक्त कथाको व्यक्त करती है ।

अब यहां प्रश्न होसकता है कि, क्या सूर्यादि शब्दोंसे वाचक देवतायें आत्मासे भिन्न हैं? तथा यदि भिन्न हैं तो "अनेक नामोंसे एकही सत्य तत्वका बोध होता है" इस ऋग्वेद (१।१६४।४६) के मंत्रका क्या तात्पर्य है? इसका उत्तर निम्न प्रकार है ।

राजाके राज्यमें दीवान, तहसीलदार, तालुकदार, ग्रामका अधिकारी, सैनिक, सेनापति, सिपाही आदि बडेसे बडे और छोटेसे छोटे ओहदेदार

होते हैं? प्रत्येक ओहदेदारमें राजाकी शक्ति ही कार्य करती है । जिस समय राजा अपनी शक्ति हटाता है, उस समय वही ओहदेदार उसी क्षण साधारण मनुष्यके समान अधिकारहीन बन जाता है । तथा जिस अन्य मनुष्यमें राजा अपनी शक्ति रखदेता है वही बडा अधिकार संपन्न हो जाता है । यहां पाठक विचार कर सकते हैं कि क्या राष्ट्रके अधिकारी स्वतंत्रतासे कार्य करनेमें समर्थ हैं वा नहीं? विचारसे प्रतीत होगा कि राजशक्ति को लेकर ही ये अधिकारी कार्य कर सकते हैं, इनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। यदि प्रत्येक ओहदेदारमें राजशक्तिही कार्य करती है तो प्रत्येक ओहदेदारका कार्य करनेकी शक्ति "अमूर्त-राजशक्ति" में विद्यमान है। इस लिये कोई मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार किसी ओहदेदारके नामसे "सरकार" का बोध ले सकता है । जनता तहसीलदारमें, दीवानमें, इतनाही नहीं प्रत्युत छोटे सीपाहीमेंभी, "अमूर्त सरकार" कोही देखती है । प्रत्येक ओहदेदारके बुरेभले कर्तूतोंसे सरकारको बुराभला समझते हैं । तात्पर्य प्रत्येक ओहदेदारकी शक्ति "सरकार" में है, परंतु सरकारकी संपूर्ण शक्ति किसी एक ओहदेदारमें नहीं है, तथा सरकारकी शक्तिसे ही प्रत्येक ओहदे-दार अपना कार्य करता है, उसमें स्वतंत्र अधिकार नहीं है ।

इसीप्रकार देहमें "आत्मा" स्वयं सरकार है, और मन, बुद्धि, चित्त अहंकार, ज्ञानेंद्रियां तथा कर्मेंद्रियां ये देव उसके राज्यके ओहदेदार हैं। आत्माकी शक्तिसेही ये इंद्रिय कार्य करते हैं स्वयं इनमें शक्ति नहीं है ।

यही बात जगत्में है । सूर्य चंद्रादिकोंमें परमात्मशक्ति कार्य कर रही है, उस शक्तिके विना वे निजकार्य कर नहीं सकते । इस लिये सूर्यादि शब्दोंसे परमात्माका बोध हो सकता है, परंतु संपूर्ण परमात्मशक्ति किसी एक देवमें नहीं है। इससे स्पष्ट है कि प्रकाश के लिये सूर्यकी जो प्रशंसा की जाती है वह वास्तविक सूर्य की नहीं है, प्रत्युत वह परमात्मशक्ति की ही प्रशंसा है । यही बात अन्य देवताओंके विषयमें समझना योग्य है। तात्पर्य यह कि सूर्यादि देवतावाचक अनेक नाम परमात्मशक्तिकाही वर्णन कर रहे हैं, तथा यद्यपि सूर्यादि देव भिन्न भिन्न हैं, तथापि उन सबमें एकही अमूर्त आत्मशक्ति कार्य कर रही है । जो बात राष्ट्रमें तथा शरीरमें देखी है, वही जगत्में है । यह तुलना संकेतमात्र ही है यह यहां भूलना नहीं चाहिये ।

इस प्रकार ओहदेदारोंसें राजशक्ति का प्रभाव, शरीरसें जीवात्मश-क्तिका गौरव और जगत्में परमात्मशक्तिका महत्व स्पष्ट है। यही बात स्पष्ट करनेके लिये इस कथाका उपक्रम है।

(३) "देव" शब्दका महत्व।

वैदिक वाङ्मयमें तथा पौराणिक सारस्वतमें "देव" शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त होता है। इस बातका ख्याल न करनेके कारण ईसाई धर्मका प्रचार करनेवाले पाद्री और विदेशी दृष्टिसे देखनेवाले भारतवर्षीय विद्वान् बडेही भ्रममें पडे हैं। तेहेत्तीस कोटी देव कौन हैं? परमात्म-देवका उनके साथ क्या संबंध है? ब्रह्मशक्ति किसको कहते हैं? व्यक्ति में देव कौनसे हैं, समाजमें और जगत्में देव कैसे और कहां रहते हैं? उनका परस्पर संबंध क्या है? इन प्रश्नों का ठीकठीक ज्ञान न होनेके कारण ये लोग न वेदमंत्रोंका भाव समझ सके हैं, और न ब्राह्मणों और पुराणों का आशय जान सके हैं। जिस समय देवोंकी ठीकठीक कल्पना प्रकाशित होगी, उस समय न केवल वैदिक मंत्र विस्पष्ट हो सकते हैं, परंतु पौराणिक सारस्वत तक सब ग्रंथोंकी उपपत्ति लग सकती है, इतनाही नही परंतु बैबल, कुराण और झंद अवेस्था आदि ग्रंथोंकी गाथाओंकी भी उपपत्ति ठीकठीक लग सकती है। क्योंकि प्रायः जगत्में प्रचलित बहुतसी गाथाओंका मूल एकही है, और उसका भाव अथवा मूलबिंदु वेदमंत्रोंमें है। जिससमय इस दृष्टिसे पूर्ण अध्ययन हो जायगा, तब कई गूढ प्रश्न व्यक्त हो जांयगे, कई मतभेदों की संगति लग जायगी, और असंभव बातोंकी भी उपपत्ति लग जायगी।

प्राचीन कालमें प्रायः यौगिक और योगरूढिक दृष्टिसे शब्दों के प्रयोग हो जाते थे, इसलिये एकही शब्द अनेक अर्थसें प्रयुक्त होजाना संभव था। "देव" शब्दके अनेक अर्थ हैं, परंतु सब अर्थोंसें प्रकाशनेवाला (द्योतनात् देवः) "यह अर्थ मुख्य है। जहां प्रकाश होगा वहां देवत्व होगा।" इस दृष्टिसे प्रकाशका मूलस्रोत परमात्मा होनेसे मूल देव "पर-मात्म-देव" ही है, पश्चात्, सूर्य, चंद्र, तारागण, अग्नि, विद्युत् आदि प्रकाश देनेवाले होनेके कारण देवही हैं। समाजसें ज्ञानी, विद्वान्, नेता, आदिजन

ज्ञानका प्रकाश करनेके कारण देव हैं, शरीरमें सब ज्ञानेंद्रियां ज्ञानका प्रकाश दे रहीं हैं इसलिये येभी देव ही हैं। देखिये व्यक्तिमें, समाजमें और जगत् में कैसे देव हैं। इनसे भिन्न अन्य पदार्थोंमें वृक्ष, वनस्पति, पहाड, नदी, नद, समुद्र आदिभी देव हैं इनमें अन्य दृष्टिसे देवत्व है।

इन सब देवोंका विचार करनेसे पता लग जाता है कि "देव" शब्द का अर्थ सदा के लिये "जगत्कर्ता" नहीं है। स्थान, अवस्था, प्रसंग आदिके भेदसे "देव" शब्दका प्रयोग सहस्रों अर्थोंमें हो सकता है। जो लोग इस बातको समझेंगें, वे पुराणोंमें देवोंका जय और पराजय की कथा देख कर कभी उपहास नहीं कर सकते, क्यों कि वही बात उपनिषदों ब्राह्मणों और वेदमंत्रोंमें भी संकेतरूपसे है।

"परब्रह्म परमात्मा" मुख्य देव है, उसका कभी पराभव हुआ नहीं और न होगा। परंतु अन्य देवोंका पराजय और जय होना संभव है। सूर्य इतना बडा है परंतु जब बादल आजाते हैं तब वहभी पराजित होता है; आंख बडी प्रभाव शाली है, परंतु वहभी दसपांच योजनोंके परे देखनेके कार्य में पराजित होती है, इस प्रकार अन्यान्य देव अन्यान्य प्रसंगोंके कारण पराजित होना संभव है। और ऐसा होनेमें उन देवोंकी कोई निंदा नहीं है, परंतु वह एक काव्यदृष्टिसे वस्तुस्थितिकाही वर्णन है। बादल आनेसे सूर्य घेरागया है, ऐसा कवी वर्णन करते हैं, परंतु वास्तविक दृष्टिसे वह कभी घेरा नहीं जाता। ऐसी कथाओंमें सूर्यका घेरा जाना अथवा न जानेकी बात मुख्य नहीं होती, परंतु उस कथासे जो बोध लेना होता है, उतनाही मुख्य होता है। अलंकाररूप होनेसे सभी कथाएं मनघडंत, कपोलकल्पित और मिथ्या होतीं हैं, परंतु उसके अंदरका तत्वोपदेश सत्य होता है।

इस केनोपनिषद् की कथामें अग्नि, वायु, इंद्र आदि देवोंका जो पराजय हुआ है, वह परमात्माकी विशाल शक्तिके मुकाबलेमें हुआ है। सब वेदादिशास्त्र इसको मानते ही हैं कि, परमात्मशक्तिसेही सूर्य, वायु, अग्नि, आदि प्रकाशित होते हैं और ये स्वयं प्रकाश नहीं दे सकते। फिर कथाद्वारा परमात्मशक्तिकी मुख्यता और उसकी अपेक्षासे सूर्यादिकोंकी गौणता

दर्शायी गई तो कोई हानी नहीं। परमात्मशक्तिको स्त्रीरूप वर्णन करना, उसके हाथों पावोंका वर्णन करना, यह सब अलंकारकी रचना करनेवालेके मर्जीपर निर्भर है। एक उसको पुरुष मानेगा, दूसरा स्त्री मानेगा, तीसरा इच्छा होनेपर नपुंसकभी मान सकता है। तथा अपने अपने अलंकारके अनुसंधानसे इतर रचना कर सकते हैं। यह बाहेरका अलंकारका पहनाव देखना नहीं होता है, परंतु अंदरका तत्व देखना होता है। हां, जो पाठक बाहिरके अलंकारमें फसेंगे वे भ्रममें पड सकते हैं, परंतु इसका हेतु उनके अज्ञानमें है, न कि अलंकारकी कथामें। इस बातका शांति से विचार पाठक करें।

तात्पर्य यह है कि, ईसाई पाद्री तथा हमारे देशभाई आदिकों का देवताओंकी कथाओंपर जो आक्षेप होता है, वह मूल बात को न समझनेके कारण है। वेदभी परमात्माको पिता, माता, भाई, मित्र, रक्षक राजा आदि कहताही है। फिर एकनें उसके पितृत्वका भाव लेकर कथाकी रचना की, तथा दूसरेनें उसके मातृत्वका आशय लेकर गाथाका विस्तार किया, तो वेदसे विरोध कैसे हो सकता है? आशा है कि पाठक इस कथाकी और इस दृष्टिसे देखेंगे। श्लोक १८ में "जगदंबिका" शब्द है। जगन्माता का भाव उसमें है। उक्त निरूपणके अनुसार परमात्माही जगन्माता है अन्य कोई नहीं। उक्त कथामें देवीका "अलौकिक तेज" है ऐसा वर्णन है (देखिये श्लोक ४२)। इस प्रकार श्लोक ६१ तक का वर्णन गाथा की सजावट की दृष्टिसे है, इसका अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

देवोंका विचार करनेके लिये एक बात अवश्य ध्यानमें धरनी चाहिये, वह यह है कि, संस्कृतमें एकही अर्थके लिये तीनों लिंगों में शब्द प्रयुक्त हुआ करते हैं, जैसा—

पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	नपुसंकलिंग
देवः	देवी, देवता	दैवतं
लेखः	पत्रिका	पत्रं
वेदः, आगमः,	श्रुतिः	ब्रह्म, छंदः

दाराः	भार्या	कलत्रं
ग्रंथः	लेखमाला	पुस्तकं
देहः	तनूः	शरीरं
समुदायः	संहतिः	वृंदं

इस प्रकार एकही अर्थवाले शब्द संस्कृतमें तीनों लिंगोंमें प्रयुक्त होते हैं। इसलिये "देवी" शब्द से परमात्माका स्त्रीरूप वर्णन होने पर भी वह स्त्रीत्वसे बाहिर ही होता है।

वास्तविक बात यह है कि संस्कृतमें तथा अन्य भाषाओंमेंभी एकही अर्थमें भिन्नलिंगी शब्दोंके प्रयोग हुआही करते हैं और लिंगभेद से मूल वस्तुमें विकृति होनेकी संभावना कोई भी नहीं मानता। इसलिये "देवी" शब्दसे परमात्माके स्त्री बननेकी कल्पना अज्ञानमूलक है। इसी रीतिसे अन्य आक्षेपोंका विचार पाठक कर सकते हैं।

(४) कथाका वर्णन।

प्रायः बहुतसीं कथायें वेदके सिद्धांतोंका वर्णन करनेके लियेही लिखी गयीं हैं। "भारत-व्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।" महाभारत के कथाओंके द्वारा व्यासनें वेदका ही अर्थ बताया है, ऐसा भागवतमें (१।४।२८; १।३।३५) कहा है। यद्यपि इस रीतिसे संपूर्ण कथाओंका मूल हमनें वेदमें इस समय नही देखा है, तथापि जितनीं कथायें हमने देखीं हैं, उनका विचार करनेसे ऐसा पता लगा है कि वेदके मूलशब्द, तथा स्थान स्थानपर मूलमंत्र भी कथाओंमें जैसेके वैसे लिखे हैं, अन्य स्थानोंमें मंत्रोंके अर्थही लिखे हैं। ये देखनेसे इस समयभी पता लग सकता है कि, किस वेदमंत्र के साथ किस कथा का संबंध है। जो खंडन मंडन करना चाहते हैं उनको उचित है कि, वे सबसे प्रथम कथाओंका मूल वेदमें ढूंढ कर निकालें और मूल वेदके आशयसे कथाका विचार करें। इसी दृष्टिसे यहां निम्न विचार किया जाता है।

इस कथामें "सर्वे वेदा यत्पदं०" यह ६३ वां श्लोक कठ उपनिषद् (२।१५) से लिया है। यह सबही कथा केन उपनिषद् के विचारको

स्पष्ट करनेके लिये लिखी गई है । श्लोक ६४ का प्रथम चरण भी कठ उपनिषद्काही है । श्लोक ७८ भाषांतररूप है देखिये—

मद्भयाद्वाति पवनो, भीत्या सूर्यश्च गच्छति ॥
इंद्राग्निमृत्यवस्तद्वत् साहं सर्वोत्तमा स्मृता ॥ ७८ ॥

इसके साथ निम्न उपनिषद् मंत्र देखिये—

भीषाऽस्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः ॥
भीषाऽस्मादग्निश्चेंद्रश्च, मृत्युर्धावति पंचमः ॥
तै. उ. २।८।१

दोनों के शब्द और रचना भी एकही है ।

(५) कथाका वेदके साथ संबंध ।

श्लोक ७७ में कहा है कि " ब्रह्मा विष्णु और रुद्रको मैं ही प्रेरित करती हूं । " इस विषयमें निम्न सूक्त देखिये—

वागांभृणी-सूक्तम् ।

(ऋ. १०।१२५)

(ऋषिः—वागांभृणी ॥ देवता-वागांभृणी)

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ॥
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिंद्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ॥
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥ २ ॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ॥
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ३ ॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ॥
अमंतवो मां त उपक्षयन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवन्तं वदामि ॥४॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ॥
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥५॥
अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ॥
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ६ ॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे॥
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि॥ ७॥
अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा॥
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव॥ ८॥

"मैं वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वेदेवोंके साथ संचार करती हूं। मैं मित्र, वरुण, इंद्र, अग्नि, और अश्विनी देवोंका धारण पोषण करती हूं (१); मैं सोम, त्वष्टा, पूषा और भग की पुष्टि करती हूं। मैं यजमान के लिये धन देती हूं, (२) मैं (राष्ट्री) तेजस्वीनी महाराणी हूं और धनोंको एकत्रित करनेवाली हूं, इसलिये मैं पूजनीयों में प्रथम पूजनीय हूं। (भूरि–स्था–त्रां) सर्वत्र अवस्थित और (भूरि आवेशयंतीं) अनेक प्रकारसे आवेश उत्पन्न करनेवाली मैं हूं, यह जानकर सब देव (पुरुत्रा) बहुत प्रकारसे (मां व्यदधुः) मेरी ही धारणा करते हैं; (३) जो यह सुनता और जानता है वह (मया) मेरी कृपासे (अन्नं अत्ति) अन्न खाता है। हे (श्रद्धि-वन्) भक्तिमान् पुरुष! जो मैं बोलती हूं वह सुन! कि जो (मां अमंतवः) मुझे नहीं मानते वे (उपक्षयंति) विनाशको प्राप्त होते हैं; (४) यह मैं ही स्वयं कहती हूं कि, जो सब देव और मनुष्य मानते हैं। (यं कामये) जिसको मैं चाहती हूं (तं तं उग्रं कृणोमि) उसको उग्र और श्रेष्ठ बनाती हूं, उसीको ऋषी ब्रह्मा और ज्ञानी बनाती हूं; (५) मैं रुद्रके लिये धनुष्य सिद्ध करके देती हूं, इस इच्छासे कि वह ज्ञानका द्वेष करनेवाले शत्रुका हनन करे। मैं जनताके लिये युद्ध करती हूं। मैं द्युलोक और पृथिवीमें प्रविष्ट हूं (६); मैं इसपर रक्षक स्थापन करती हूं। मेरा मूलस्थान प्रकृतीके समुद्रके बीचमें है। वहांसे उठकर मैं सब भुवनोंमें संचार करती हूं और सिरसे द्युलोकको स्पर्श करती हूं, (७) सब भुवनोंका आरंभ करनेके समय मैं वायुके समान गति उत्पन्न करती हूं और पृथिवीसे विशाल और द्युलोकसे परेभी व्यापक अतएव सर्वगामी होती हूं।"

इन मंत्रोंके शब्दोंका गूढ आशय व्यक्त करनेके लिये यहां स्थान नहीं है, केवल कथाका संबंधही यहां बताना है। इसके साथ निम्न मंत्रोंकी तुलना कीजिये—

इंद्रसूक्तं ।

(ऋ. ४।२६)

(ऋषिः—वामदेवः । देवता—इंद्रः)

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ॥
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृंजेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥ १ ॥
अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय ॥
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥ २ ॥
अहं पुरो मंदसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शंबरस्य ॥
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥ ३ ॥

"मैं मनु हुआ था और मैं सूर्य था, मैं ज्ञानी कक्षीवान् ऋषी हूं। मैं आर्जुनेय कुत्स और उशना कवी मैं हूं (मां पश्यत) मुझे देखिये (१); मैनें आर्योंको भूमि दी है, और दानशील मनुष्योंके लिये मैं वृष्टि करता हूं। मैं मेघोंको घुमाता हूं और (मम केतं) मेरे संदेशके अनुसार (देवाः अनु आयन्) सब देव अनुकूल होकर चलते हैं; (२); मैंने ही शंबरकी (नव नवतीः पुरः) न्यानव पुरियां नष्टभ्रष्ट कर दीं, और अतिथिग्व दिवोदास को (यदा आवं) जब सहायता की तब (शततमं वेश्यं) सौवां निवासस्थान भी वैसाही किया था।"

इंद्रावरुणसूक्तम् ।

(ऋ, ४।४२)

(ऋषिः—त्रसदस्युः । देवता—इंद्रः वरुणः)

अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्त ॥
क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य नीडे ॥ २ ॥
अहमिंद्रो वरुणस्ते महित्वोर्वी गभीरे रजसी सुमेके ॥
त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान्त्समैरयं रोदसी धारयं च ॥३॥
अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य ॥
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथयद्विभूम ॥ ४ ॥
मां नरः स्वश्वा वाजयन्ते मां वृता समरणे हवन्ते ॥
कृणोम्याजिं मघवाहमिंद्र इयर्मि रेणुमभिभूत्योजाः ॥ ५ ॥
अहं ता विश्वा चकरं न किर्मा दैव्यं सहो वरते अप्रतीतम् ॥

"मैं राजा वरुण हूं । मुझे (तानि प्रथमा असुर्याणि) वह पहिली शक्तियां प्राप्त थीं । वरुणके ही कर्मको सब देव करते हैं । मैं ही सब प्रजाओंका राजा हूं (२); मैं इंद्र और वरुण हूं, जिनके महत्वसे बडे गंभीर द्युलोक और पृथिवी लोक रहे हैं । त्वष्टा के समान सब भुवनोंको जानता हुआ मैं द्यु और पृथिवी को चलाता और धारण करता हूं (३); मैंनेंही पानीका प्रवाह चलाया है और द्युलोक का धारण किया है । अदितिके पुत्र ने नियमके अनुकूल सब विश्व (त्रि-धातु) तीन धारणशक्तियोंसे फैलाया है (४); घोडोंपर बैठे हुए मिलकर युद्ध करनेवाले (नरः) पुरुषार्थी वीर लोक (मां) मुझे ही बुलाते हैं । (अहं इंद्रः) मैं मघवान् इंद्र (आजिं कृणोमि) युद्ध करता हूं और वेगसे (रेणुं इयर्मि) धूलीको उड़ता हूं (५) यह सब (अहं चकरं) मैंनें किया है । (दैव्यं सहः) देवोंकी शक्ति (न मा वरते) मुझे बाधा नहीं करती । (६) "

वैकुंठसूक्तम् ।

(ऋ. १०।४८)

(ऋषिः—इंद्रो वैकुंठः । देवता–इंद्रो वैकुंठः)

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः ॥
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥१॥
अहमिंद्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदाचन ॥
सोममिन्मा सुन्वतो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥५॥
आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम ॥
ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळ्हम् ॥ ११ ॥

(ऋ. १०।४९)

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम् ॥
अहं भुवं यजमानस्य चोदितायज्वनः साक्षि विश्वस्मिन्भरे ॥१॥
मां धुरिंद्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः ॥

"मैं ही (वसुनः पूर्व्यः पतिः) धनोंका सबसे प्राचीन स्वामी हूं । मैं सब धनोंको विजयसे प्राप्त करता हूं । जिस प्रकार सब प्राणी पिताकी प्रार्थना करते हैं उसी प्रकार सब लोक (मां हवन्ते) मुझे पुकारते हैं । मैं ही दाता को भोग देता हूं (१); मैं इंद्र हूं, मेरा पराजय करके कोईभी मेरेसे धन

छिन नहीं सकता । मैं कभी मरता नहीं । सोमका सवन करते हुए मेरेसे धन मांगते जाईये । हे नागरिको! (मे सख्ये) मेरी मित्रता में निवास करनेपर (न रिषाथन) आपका नाश नहीं होगा (५);—मैं देवोंका देव होनेके कारण वसु रुद्र और आदित्योंके स्थानों का नाश नहीं करता । (ते) वे अन्य देव (भद्राय शवसे) कल्याणमय शक्तिके लिये (मां ततक्षुः) मेरी धारणा मनसे करते हैं, क्योंकि मैं (अ-पराजितं, अ-स्तृ तं, अ-साळहं) अपराजित, विस्तृत और असह्य हूं । " (११)

"मैं उपासक को अतुल धन देता हूं । सब ज्ञान मेरा ही वर्णन कर रहा है । मैं सत्कर्म करनेवालेको प्रेरित करता हूं तथा जो असत्कर्म करता है वह प्रत्येक कार्यमें हानी उठाता है (१); द्युलोक, भूलोक जललोक के मनुष्य मुझे ही प्रभु समझते हैं । "

यही भाव अथर्व वेदमें देखिये—

(अथर्व. ६।६१)

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम् ॥
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥१॥
अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त साकम् ॥
अहं सत्यमनृतं यद्वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥ २ ॥
अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त सिंधून् ॥
अहं सत्यमनृतं यद्वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ॥ ३ ॥

"जल मेरे लिये मीठापन फैलाता है, सूर्य रोशनी करता है, सब देव, तपस्वी और सविता देव मेरे लिये स्थान करते हैं (१); मैं द्युलोक और पृथिवीको रचता हूं, मैं सात ऋतुओंको बनाता हूं, मैं जो बोलता हूं वह सत्य है, और जिसका निषेध करता हूं वही असत्य होता है । मैं वाणीके परे और मनुष्योंके परे हूं । (२)"

इस प्रकार इन सूक्तोंके साथ उक्त कथाका तथा इसके सदृश अन्य गाथाओंका संबंध है । इन सूक्तोंमें शाक्त धर्मका मूल है इस विषयमें आगे कहा जायगा । जो स्वयं संस्कृत जानते हैं उनको कौनसे वेदमंत्र कौनसे श्लोकोंके मूल आधार हैं, इस बातका पता लगा ही होगा; परंतु जो स्वयं नहीं जानते उनके लिये उनका संबंध नीचे बताता हूं—

(१)

वेदके मंत्र	देवी भागवतके श्लोक
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिंद्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ अहं सोममाहनसं विभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ॥ ऋ. १०।१२५। आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम ॥ ऋ. १०।४८	सृष्टिस्थितितिरोधाने प्रेरयाम्यहमेव हि ॥ ब्रह्माणं च तथा विष्णुं रुद्रं वै कारणात्मकम् ॥ ७७ ॥

(२)

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ऋ. १०।१२५	मत्प्रसादाद्भवद्भिस्तु जयो लब्धोऽस्ति सर्वथा ॥ युष्मानहं नर्तयामि काष्ठपुत्तलिकोपमम् ॥ ७९ ॥ कदाचिद्देवविजयं दैत्यानां विजयं क्वचित् ॥ स्वतंत्रा स्वेच्छया सर्वं कुर्वे कर्मानुरोधतः ॥ ८० ॥

(३)

तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ऋ. १०।१२५ मां हवन्ते पितरं न जन्तवः ॥ ऋ. १०।४।१ ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळहम् ॥ ऋ. १०।४८।११	यज्ञभागादिभिः सर्वे देवीं नित्यं सिषेविरे ॥ ८६ ॥
मां धुरिंद्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः ॥ ऋ. १०।४९।२ महां देवा उत विश्वे तपोजा महां देवः सविता व्यचो धात् ॥ अथर्व. ३।६१	देवीपदांबुजरता आसन् सर्वे द्विजोत्तमाः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार अन्य आशयकी तुलना करनेसे कौनसा भाव वेदानुकूल हैं इसका पता लग सकता है, और उसके अनुसंधानसे अन्य बातोंका भाव किस प्रकार समझना चाहिये, इसकी भी उत्तम कल्पना हो सकती है। इससे यह कोई न समझे कि सब पुराण की सबही बातें वेदमें अथवा उपनिषदों और ब्राह्मणोंमें जैसीं की वैसीं ही मिल सकतीं हैं। परंतु जो मिलसकतीं हैं उनको मिलाना चाहिये, और उनके अनुसंधानसे संगति लगानेका यत्न होना चाहिये, यही भाव मुझे यहां व्यक्त करना है।

कई पूछेंगे कि इससे क्या होगा ? इसके उत्तरमें निवेदन है कि, ऐसी संगति लगानेका अभ्यास करनेसे कथाका वास्तविक तात्पर्य जाना जा सकता है, काल्पनिक विरोध हट सकता है और संपूर्ण संस्कृत सारस्वतमें जो वैदिक रस फैला होगा उसका अनुभव हो सकता है। इस प्रकार अभ्यास करनेके पश्चात् जो विरोध होगा वह स्वयं दूर हो सकता है और यदि अनुकूलता होगई तो अधिक आनंद मिल सकता है।

(६) शाक्तमत।

प्रायः देवीकी उपासना शाक्त लोग करते हैं। शाक्त मतका मूल जिन वेद मंत्रोंमें है उनमेंसे थोडेसे मंत्र ऊपर उद्धृत किये हैं। उनमें "वागाम्भृणी" देवताके मंत्र "स्त्री–देवता" की प्रशंसा बतानेके कारण शाक्त मत के मूल समझे जाते हैं। इनसेभी और बहुत मंत्र हैं, उनका किसी अन्य समय प्रकाशन किया जायगा, यहां उनके लिये स्थल और अवकाश नहीं है।

जो बात "स्त्रीदेवता" के सूक्तमें कही है वही बात "पुरुषदेवतोंके" सूक्तोंमें कही है, यह बतानेके लिये वागांभृणी सूक्तके साथ इंद्र और इंद्रावरुण के सूक्तोंके थोडेसे मंत्र दिये हैं। [उक्त सूक्तोंका अर्थ लिखनेके समय सूक्तोंका गूढ आशय और विशेष तात्पर्य इस लिये बताया नहीं कि कथाके साथ मंत्रोंका अनुसंधान करनेकेलिये पाठकोंको सुगम हो। इसी हेतुसे देवतावाचक तथा अन्यान्य महत्व पूर्ण शब्दोंका गूढ आशय बताया नहीं] उक्त सूक्तोंकी परस्पर तुलना करनेसे पता लग जायगा कि वेदकी दृष्टिसे "देव और देवी" एकही आत्मशक्तिकी सूचना दे रही है। तथा "वागांभृणी, इंद्र, वरुण" ये सब नाम उसी एक सद्वस्तुके बोधक हैं। अर्थात् नामोंके भेदसे उपास्य भेद नहीं होता यह इससे सिद्ध है।

शाक्त धर्म में "शक्ति" की उपासना होती है। अपने अंदर परमात्म-शक्ति को देखना, तथा सर्वत्र परमात्मशक्तिका कार्य अनुभव करना इस मतमें प्रधान बात है। हमें यहां शाक्तपंथके अन्य व्यवहार देखनेकी आवश्यकता नहीं है। जो उनका मूल सूत्र है वह जिन वेदमंत्रोंमें है उनको ऊपर धर दिया है। उन मंत्रोंका परिशीलन करनेसे पाठकोंको पता लग-सकता है कि वास्तविक मूल बात कितनी अच्छी थी और उसका विस्तार होते होते कहांतक पहुंच गईहै!! धर्मके पंथोंमें ऐसी बात हुआही करती है। मूल संचालक का उद्देश आगे आगे जाकर इतना बदल जाता है कि कई प्रसंगोंमें मूल उद्देश के बिलकुल उलटाभी हो जाता है!

योनी और शिश्नको अत्यंत पवित्र समझना, यह इस शाक्तमतका मूल उद्देश था। इसको कोईभी बुरा नहीं समझ सकते। ब्राह्मणग्रंथों में "प्रजाति" का संपूर्ण प्रकरण वेदानुकूल ही है और उससें यही बात मुख्य है। ब्रह्मज्ञान और आत्माका अनुभव होनेके पश्चात् "प्र-जाति" अर्थात् "सुजनि" किंवा "सुप्रजानिर्माण" करनेकी योग्यता प्राप्त होती है, यह वेद और ब्राह्मणोंको संमतही है। इस कार्य के लिये स्त्रीपुरुषोंके गुह्य इंद्रियोंको अत्यंत पवित्र समझना बहुत आवश्यक है। उन इंद्रियोंकी पवित्रता मानने और रखनेपर व्यभिचार आदि दोष न्यून हो सकते हैं, यहभी तर्कसे माना जासकता है। परंतु आश्चर्य यह है कि जो मत उक्त बातका प्रचार करनेके लिये मुख्यता से चला, उसी मतमें उन इंद्रियोंका अत्यंत दुरुपयोग हो गया है!!!

इस मतका यहां उल्लेख करनेका कारण यही है कि देवीभागवतका परंपरासे शाक्तमतके साथ संबंध आता है, इसलिये उस विषयमें भी जो शंका उत्पन्न होना संभव है उसका थोडासा विचार हो जाय।

वैदिक धर्मियोंपर सदा ही यह जिम्मेवारी है कि वे स्वयं अपने धर्मग्रंथोंका पूर्ण रीतिसे अध्ययन करें और वेदमंत्रोंके साथ जिन जिन मतमतांतरोंका संबंध है, उनमें मूल परिशुद्धता रखनेके लिये और उनके दोष दूर करनेके लिये यत्न करें। तात्पर्य मूल वैदिक दृष्टिसे देवी, विष्णु, शिव, सूर्य आदिके उपासक एकही परमात्माकी उपासना करते हैं, तथा जब कभी इनकी उपासनाका भेद प्रचलित हुआ होगा, उस समय भी भिन्न देवता-

की घडन्त उपासना चलानेके उद्देशसे संचालकोंनें संप्रदाय नहीं चलाया होगा; परंतु प्रारंभ में जो बात नहीं होती, वही आगे बन जाती है। सभी संप्रदायोंमें ऐसा हुआ है; इसलिये सब ग्रंथोंका अध्ययन शांतिके साथ करके ग्राह्य और अग्राह्य भाग का निश्चय सूक्ष्म विचार के साथ करना और सत्यतत्वकी ओर सबको आकर्षित करना चाहिये। यह वैदिक धर्मियोंकाही कार्य है और यह कार्य दूसरा कोई कर नहीं सकता।

(७) अंतिम बात।

मूल अथर्व वेदमें "केन सूक्त" है। उसके कई अंश लेकर "केनउपनिषद्" का प्रथम खंड बना, उसके द्वितीय खंडमें पूर्व सिद्धांतोंका विवरण करके तृतीय खंडमें मूल सिद्धांतोंको अधिक स्पष्ट करनेके लिये इंद्रकी कथा लिखी है। इसी कथा को लेकर विस्ताररूपसे वही बात देवी भागवतमें बता दी है। इसका विचार पाठक करें और जो ग्राह्य भाग होगा उसका ग्रहण करें।

व्यक्तिमें शांति !

राष्ट्रमें शांति !!

जगत्में शांति !!!

विषयसूची ।

योग-साधन-माला ।

'वैदिक धर्म' वास्तवमें आचार प्रधान धर्म है। वेदका उपदेश केवल मनमें धारण करनेसे, वेदके मंत्रोंका अर्थ समझनेसे, अथवा वैदिक आशयको केवल विचारमें रखनेसे कोई प्रयोजन नहीं निकल सकता, जब तक उस **उपदेशके अनुसार आचरण** नहीं होगा।

'वैदिक उपदेशका तत्व' आचरणमें लानेके उद्देशसे ही **'योगशास्त्र'** का अवतार हो गया है। प्राचीन कालमें **'योग-साधन'** का अभ्यास सर्व साधारणतः आठ वर्षकी अवस्थामें प्रारंभ किया जाता था। विशेष अवस्थामें इससे भी पूर्व होता था। आठ वर्षकी बालपनकी आयुमें योग साधनका प्रारंभ होनेसे और गुरुके सन्निध रहकर प्रतिदिन योग साधन करनेसे २५।३० वर्षकी अवस्थामें ब्रह्मसाक्षात्कार होना संभव था। अथर्ववेद (कां. १०।२।२९) में कहा है कि **"जो इस अमृत-मय ब्रह्मपुरीको जानता है, उसको ब्रह्म और इतर देव इंद्रिय प्राण और प्रजा देते हैं।"** अर्थात् पूर्ण दीर्घ आयुकी समाप्तितक कार्यक्षम और बलवान इंद्रिय, उत्तम दीर्घ जीवन, और सुप्रजा निर्माणकी शक्ति, ये तीन फल ब्रह्मज्ञानसे मनुष्यको प्राप्त होते हैं। यदि योग्य रीतिसे **योग साधन**

का उत्तम अभ्यास हो गया, तो ब्रह्मचर्य समाप्ति तक उक्त अधिकार प्राप्त होना संभव है ।

इस समय योगसाधनके अभ्यासका क्रम बताने-वाला गुरु उपस्थित न होनेके कारण कईयोंकी इस विषयकी इच्छा-तृप्ति नहीं हो सकती । इस लिये **"योग-साधन-माला"** द्वारा योगके सुगम तत्वोंका अभ्यास करनेके साधन प्रकाशित करनेका विचार किया है । आशा है कि पाठक इससे लाभ उठायेंगे ।

इस मालाकी पुस्तकोंमें उतनाही विषय रखा जायगा कि जितना अभ्याससे अनुभवमें आचुका है। पहिले कई सालतक अनेक मनुष्योंपर अनुभव देखनेके पश्चात्‌ही इस मालाकी पुस्तकें प्रसिद्ध की जाती हैं । इस लिये आशा है कि पाठक स्थायी ग्राहक बनेंगे और अभ्यास करके लाभ उठायेंगे ।

इस **"योग-साधन-माला"** के पुस्तक एकही वार पढने योग्य नहीं होते, परंतु वारवार पढने योग्य होते हैं । तथा इनमें जो मंत्र दिये जाते हैं उनका निरंतर मनन होना आवश्यक है; पाठक इस वातका अवश्य ध्यान रखें ।

इस समय तक इस मालाके निम्न पुस्तक, प्रसिद्ध हो चुके हैं—

संध्योपासना।

(१)

इस पुस्तकमें निम्न विषयोंका विचार किया है—

भूमिका—संध्योपासनाके विषयमें थोडासा विवेचन, संध्याका अर्थ क्या है, क्या संधिसमयका संध्यासे कोई संबंध है, संध्या दिनमें कितनी वार करना चाहिए, संध्या कहां करना चाहिए, संध्याका समय और स्थान, संध्यामें आसनका प्रयोग, प्राणायामका महत्व, संध्याके अन्य विधि, विशेष दिशाकी ओर मुख करके ही संध्या करना चाहिए या नहीं, स्वभाषामें संध्या क्यों न की जावे, संध्याके विविध भेद, यह संध्या वैदिक है वा नहीं, सप्त व्याहृतियोंका वेदसे संबंध, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं, खं, ब्रह्म, संध्या करनेवाले उपासकके मनकी तैयारी.

संध्योपासना—आचमन, अंगस्पर्श, मंत्राचमन, इंद्रियस्पर्श, मार्जन, प्राणायाम, अघमर्षण, मनसापरिक्रमण, उपस्थान, गुरुमंत्र, नमन.

संध्योपासनाके मंत्रोंका विचार—पूर्व तैयारी, प्रथम आचमन, आचमनका उद्देश और फल, आचमनके समय मनकी कल्पना, सत्य यश और श्री, अंगस्पर्श, इंद्रियस्पर्शका उद्देश, अंगस्पर्श करनेका विधि, अंगस्पर्श और योगके कोष्टक; संध्या और दीर्घ आयु.

संध्याका प्रारंभ—मंत्राचमन, इंद्रियस्पर्श, हृदय और मस्तक, मार्जन, सप्त व्याहृतियोंके अर्थ, मार्जन, व्याहृतियोंका कोष्टक, प्राणायाम, यज्ञ, प्राणायामसे बलकी वृद्धि, अघमर्षण, उत्पत्ति और प्रलयका विचार, ऋत, सत्य, तप, रात्री, समुद्र, अर्णव, संवत्सर, मनसापरिक्रमण, दिशा कोष्टक १, दिशा कोष्टक २, दिशा कोष्टक ३, दिशा कोष्टक ४, दिशा कोष्टक ५, प्रतीची और प्राची, अधिपति, रक्षिता, इषु, जंभ (जवडा), व्यक्तिका जवडा और समाजका जवडा, प्रगतिकी दिशा, दक्षताकी दिशा, विश्रामकी दिशा, उच्च अवस्थाकी दिशा, स्थिरताकी दिशा, उन्नतिकी दिशा, मनसा परिक्रमणका हेतु, उपस्थान, उत्, उत्तर, उपस्थानका

द्वितीय मंत्र, उपस्थानका तृतीय मंत्र, उपस्थानका चतुर्थ मंत्र, उपस्थानका अंगस्पर्शके मंत्रोंसे संबंध (कोष्टक), ब्रह्मज्ञानका फल, गुरुमंत्र, जपके समय मनकी अवस्था, नमन, 'मैं' पनका भान, मातृप्रेमसे ईश्वरके पास पहुंचना.

इस **'संध्योपासना'** पुस्तकके अंदर इतने विषय हैं। इन विषयोंको देखनेसे इस पुस्तककी योग्यताका ज्ञान हो सकता है। अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

कागज और छपाई बहुत बढिया है। मूल्य १॥) डेढ रुपया है। शीघ्र मंगवाइए। (द्वितीयवार मुद्रित)

संध्याका अनुष्ठान ।

(२)

इस पुस्तकमें, संध्याके प्रत्येक मंत्रके साथ अष्टांग योगका जो जो अनुष्ठान करना आवश्यक है, दिया है। इस प्रकार संध्याका अनुष्ठान करनेसे संध्याका आनंद प्राप्त हो सकता है। मूल्य ॥) आठ आने है।

वैदिक प्राणविद्या ।

(३)

यह योगसाधन मालाकी तृतीय पुस्तक है। इसमें निम्न विषयोंका विचार किया है—

भूमिका—अवैतनिक महावीरोंका स्वागत। अवैतनिक राष्ट्रीय स्वयंसेवकोंका सन्मान, एकादश रुद्र, महावीर, एकादश प्राण, प्राणोपासना।

वैदिकप्राणविद्या—वेदमें प्राणकी विद्या, **प्राणसूक्त** (अथर्व. ११।६) ईश्वर सबका प्राण, अंतरिक्षस्थ प्राण, प्राणका कार्य, वैयक्तिक प्राण, पूरक कुंभक रेचक और बाह्य कुंभक, प्राणका औषधिगुण, प्राण और रुद्र, सर्वरक्षक प्राण, प्राण उपासना, सत्यसे बलप्राप्ति, सूर्यचंद्रमें प्राण, प्राणोंका प्राण, धान्यमें प्राण, पृथिवी, धारक बैल, प्राणसे पुनर्जन्म, आथर्वणचिकित्सा, मनुष्यज औषधि, दैवी औषधि, आंगिरस औषधि, आथर्वण औषधि,

प्राणकी वृष्टि, प्राणको स्वाधीन रखनेवालेकी योग्यता, पितापुत्र संबंध, हंस, सोऽहं, अहं सः, ब्रह्माका वाहन हंस, कमलासन, मानस सरोवर, प्राणचक्र, नमन और प्रार्थना, जागनेवाला प्राण, प्राणसूक्तका सारांश, **ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश,** असुनीति प्राणनीति, **यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश,** प्राणकी वृद्धि, प्राण राजा, सत्कर्म और प्राण, प्राणदाता अग्नि, भौवायन प्राण, प्राणके साथ इंद्रियोंका विकास, विश्वव्यापक प्राण, लडनेवाला प्राण, इडा पिंगला सुषुम्ना, गंगा यमुना सरस्वती, सरस्वतीमें प्राण, भोजनमें प्राण, सहस्राक्ष अग्नि, **सामवेद** प्राणवेद, **अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश,** मैं विजयी हूं, पंचमुखी महादेव, ग्यारह रुद्र, पशुपति, पंच अग्नि, प्राणाग्निहोत्र, प्राणका मीठा चाबुक, अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता, प्राणकी मित्रता, व्रात्यके सप्तप्राण, समयकी अनुकूलता, प्राणरक्षक ऋषि, वृद्धताका धन, बोध और प्रतिबोध, उन्नतिही तेरा मार्ग है, यमके दूत, अथर्वाका सिर, ब्रह्मलोककी प्राप्ति, देवोंका कोश, ब्रह्मकी नगरी, अयोध्या नगरी, अयोध्याका राम, चारों वेदोंके प्राण विषयक उपदेशका सारांश ।

उपनिषदोंमें प्राणविद्या—प्राणकी श्रेष्ठता, रयि और प्राण, प्राण कहांसे आता है, सूर्य और प्राण, देवोंकी घमंड, प्राणस्तुति, प्राणरूप अग्नि, देव, पितर, ऋषि, अंगिरा, प्राणका प्रेरक, मारुती, वायुपुत्र, दाशरथी राम, दशमुखकी लंका, अंगोंका रस, प्राण और अन्य शक्ति, पतंग, वसु रुद्र आदित्य, तीन लोक ।

इस पुस्तकमें इतने विषयोंका विचार किया है । यह पुस्तक अथर्ववेदके प्राणसूक्त (११।६) की विस्तृत व्याख्या ही है । कागज और छपाई अत्यंत उत्तम । **मूल्य १) एक रु.** ।

ब्रह्मचर्य (सचित्र)

(४)

यह योगसाधनमालाकी चतुर्थ पुस्तक है । इसमें ब्रह्मचर्य साधन करनेकी यौगिक क्रिया बताई है । मूल्य १।) सवा रु० है ।

मंत्री—स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

स्वाध्याय मंडलके पुस्तक।

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय ।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या । नरमेध । "मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन।" मूल्य १) एक रु. ।

(२) य. अ. ३२ की व्याख्या । सर्वमेध । "एक ईश्वरकी उपासना।" मू. ॥) आठ आने ।

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या । शांतिकरण । "सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥) आठ आने ।

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ-माला ।

(१) रुद्र देवताका परिचय । मू. ॥) आठ आने ।

(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता । मू. ॥=) दस ,, ।

(३) ३३ देवताओंका विचार । मू. =) दो ,, ।

(४) देवता विचार । मू. ≡) तीन ,, ।

[३] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा । प्रथमभाग । मू. -) एक आना ।

(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा । द्वितीयभाग । मू. =) दो आने ।

(३) वैदिक पाठमाला । प्रथम पुस्तक । मू. ≡) तीन आने ।

[४] योग-साधन-माला ।

(१) संध्योपासना । योगकी दृष्टिसे संध्या करनेकी प्रक्रिया इस पुस्तकमें लिखी है । मू. १॥) डेढ रु. । द्वितीयवार मुद्रित ।

(२) संध्याका अनुष्ठान । मू. ॥) आठ आने ।

(३) वैदिक-प्राणविद्या । मू. १) एक रु. ।

(४) ब्रह्मचर्य । मू. १।) सवा रु. ।

[५] स्वयं-शिक्षक-माला।

(१) वेदका स्वयंशिक्षक। प्रथमभाग। मू. १॥) डेढ रु.
(२) वेदका स्वयंशिक्षक। द्वितीय भाग। मू. १॥) डेढ रु.

[६] आगम-निबंध-माला।

(१) वैदिकराज्यपद्धति। मू. ≡) तीन आने।
(२) मानवी आयुष्य। मू. ।) चार ,, ।
(३) वैदिक सभ्यता। मू. ≡) तीन ,, ।
(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र। मू. ।) चार ,, ।
(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥) आठ ,, ।
(६) वैदिक सर्पविद्या। मू. ॥) आठ ,, ।
(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू. ॥) आठ ,, ।
(८) वेदमें चरखा। मू. ॥) आठ ,, ।

[७] ब्राह्मण-बोध-माला।

(१) शत-पथ-बोधामृत। मू॰ ।) चार आने।

[८] उपनिषद्-ग्रंथ-माला।

(१) "ईश" उपनिषद्। मू. ॥≡) चौदह आने
(२) "केन" उपनिषद्। मू. १।) सवा रु.

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल,
औंध (जि. सातारा.)

30